UNIVERSAL LIBRARY

OU_186328

UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 491·2509 Accession No. H 6014

K17S

Author ~~शास्त्री~~ कपिलदेव शास्त्री

Title संस्कृत व्याकरण में गणपाठ

This book should be returned on or before the date last marked below. 1961

ओम्

संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि

[गणपाठों का एक तुलनात्मक-अध्ययन]

येन धौता गिरः पुंसाम्,
विमलैः शब्द-वारिभिः ।।
तमश्चाज्ञानजं भिन्नम्,
तस्मै पाणिनये नमः ।।

लेखक—

डा० कपिलदेव शास्त्री, साहित्याचार्य, एम० ए०, पीएच० डी०
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान, अजमेर

प्रकाशक—

संचालक

भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान

२४/२१२ रामगंज, अजमेर

प्रथमावृत्ति—सं० २०१८ वि०

मूल्य [redacted] रुपए

मुद्रक—

श्री भगवान्स्वरूप 'न्यायभूषण'

प्रबन्धकर्त्ता, वैदिक यन्त्रालय

अजमेर

समर्पण

जिनके उपकार मुझे भुलाये नहीं भूलते,

उन परमश्रद्धेय एवं उदार-हृदय

गुरुचरण डा० सूर्यकान्तजी

(शास्त्री, एम० ए०, डी फिल् (आक्सन्) डी० लिट्. (पंजाब),

मयूरभंज प्रोफेसर, अध्यक्ष–संस्कृत-प्राकृत-पाली-विभाग

तथा प्रिंसिपल कालेज आफ इण्डालाजी)

की सेवा में

सादर सविनय

समर्पित

भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान

उद्देश्य

इस संस्था के उद्देश्य "भारतीय प्राचीन वाङ्मय का अन्वेषण, रक्षण और प्रसार" है।

कार्य-क्रम

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रतिष्ठान के कार्य-क्रम को निम्न विभागों में बांटा है—

१-भारतीय प्राचीन वाङ्मय का अनुसन्धान।

२-भारतीय प्राचीन वाङ्मय के अनुसन्धान द्वारा विभिन्न विषयों पर मौलिक ग्रन्थों तथा निबन्धों का लेखन और प्रकाशन।

३-भारतीय वाङ्मय के विविध विभागों के इतिहास तथा भारत के प्राचीन इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थों का लेखन और प्रकाशन।

४-भारतीय प्राचीन वाङ्मय का शुद्ध सम्पादन तथा प्रकाशन।

५-भारतीय प्राचीन वाङ्मय का राष्ट्रभाषा (हिन्दी) में प्रामाणिक अनुवाद।

६-संस्कृत वाङ्मय तथा इतिहास सम्बन्धी गवेषणात्मक त्रैमासिक "पत्रिका" का प्रकाशन।

७-उपर्युक्त कार्य-क्रम की पूर्ति के लिए "बृहत् पुस्तकालय" का निर्माण।

८-प्राचीन वाङ्मय की रक्षा और प्रसार के लिए 'साङ्गवेद-विद्यालय' का संचालन।

९-उद्देश्यों की पूर्ति करने द्वारे विशिष्ट साहित्य के प्रचार के लिए 'विक्रय-विभाग' का संचालन।

विशेष विवरण के लिए "प्रतिष्ठान की योजना, कार्य-क्रम तथा कृतकार्य-विवरण" पुस्तिका विना मूल्य मंगवाइये।

संचालक—भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान

२४/२१२ रामगंज
अजमेर

४६४३ रेगपुरा, गली ४०
करोलबाग, नई दिल्ली ५।

सम्पादकीय

प्राचीन संस्कृत वाङ्मय का तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन करने वाले, विशेषकर संस्कृत व्याकरण शास्त्र में रुचि रखने वाले विद्वन्महानुभावों के सन्मुख अपने मित्र श्री पं० कपिलदेवजी साहित्याचार्य, एम० ए०, पी एच० डी० प्राध्यापक संस्कृत विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र का "संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि" नामक ग्रन्थ उपस्थित करते हुए मैं परम प्रसन्नता अनुभव करता हूँ।

हिन्दू विश्वविद्यालय काशी से संस्कृत में ससम्मान एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् मित्र महोदय ने पी एच० डी० के लिए संस्कृत व्याकरण से संबद्ध किसी विषय का निर्देश करने के लिए मुझ से कहा। मैंने अपने अनुभव के आधार पर पाणिनीय गणपाठ के शुद्ध संस्करण का सर्वथा अभाव देखते हुए "पाणिनीय गणपाठ का आदर्श संस्करण और समस्त गणपाठों का तुलनात्मक अध्ययन" विषय का निर्देश किया। मैं जानता था कि यह विषय अत्यन्त परिश्रमसाध्य है और इस विषय में वही व्यक्ति सफल हो सकता है, जिसे पाणिनीय व्याकरण का पूर्ण ज्ञान होने के साथ साथ अन्य अनेक विषयों का परिज्ञान हो और उत्साही तथा धैर्यवान् हो। मेरे मित्र महोदय में ये सभी बातें सम्मिलित रूप से विद्यमान हैं। अतः वे अनेक विघ्नबाधाओं के, जो कि भारतवर्ष में साधारण परिस्थिति के अध्ययनार्थी के सन्मुख आती हैं और विशेषकर संस्कतज्ञ के सन्मुख, उपस्थित होने पर भी धैर्यपूर्वक अपने कार्य में लगे रहे और उसमें पूर्ण सफलता प्राप्त करके हिन्दू विश्वविद्यालय काशी से पी एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

पी एच० डी० उपाधि के लिए उपस्थापित उक्त निबन्ध के तीन भाग हैं। प्रथम–गणपाठों का तुलनात्मक अध्ययन, दूसरा–गणपाठ का आदर्श संस्करण और तृतीय–पाणिनीय गणपाठ पर आलोचनात्मक टिप्पण। इस निबन्ध का प्रथम और तृतीय भाग मूलतः अंग्रेजी भाषा

में लिखे गए थे, क्योंकि उस समय तक हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में पी एच० डी० के लिए संस्कृत अथवा राष्ट्रभाषा हिन्दी में लिखे निबन्ध स्वीकृत नहीं होते थे। प्रस्तुत पुस्तक यद्यपि उक्त निबन्ध के प्रथम भाग का ही हिन्दी रूपान्तर है, तथापि यह भाग इस रूप से लिखा गया है कि यह अपने रूप में स्वतन्त्र ग्रन्थ बन गया है। इसलिए मैं पहले इस भाग को प्रकाशित कर रहा हूं, निबन्ध के शेष भाग भी यथासम्भव शीघ्र प्रकाशित होंगे।

वर्तमान युग में संस्कृत वाङ्मय के तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन का आरम्भ पाश्चात्य विद्वानों द्वारा हुआ है। उन के वाङ्मय में संस्कृत वाङ्मय के समान दृष्ट-उपाज्ञात-प्रोक्त-कृत ये भेद नहीं है। इसलिए वे इन विभागों से विशेषकर प्रोक्त और कृत वाङ्मय के भेद से अनभिज्ञ हैं। इस अनभिज्ञता के कारण उन्होंने प्रोक्त ग्रन्थों के विषय में तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन के आधार पर जो परिणाम प्रस्तुत किए, वे प्रायः न केवल सत्य से दूर ही हैं, अपितु कई अंशों में तथ्य से सर्वथा विपरीत भी हैं। यद्यपि प्रा० कपिलदेवजी ने पी एच० डी० के लिए प्रस्तुत किए जाने वाले इस निबन्ध में पाश्चात्य अध्ययन-परिपाटी को ही अपनाया है, तथापि उन्होंने संस्कृत वाङ्मय के प्रोक्त तथा कृत भेदों से भले प्रकार विज्ञ होने के कारण अनेक स्थानों पर पूर्व प्रसरित अथवा लिखित भ्रान्त धारणाओं का निराकरण किया है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ अधिक उपयोगी बन गया है।

मैंने इस ग्रन्थ का सम्पादन तथा संशोधन करते समय लेखक के भावों की पूर्ण रक्षा करने का प्रयत्न किया है। अनेक स्थलों पर मैं अपनी टिप्पणियां परिशिष्ट रूप में देना चाहता था, जिनसे पाठक महानुभावों को उन उन स्थलों पर मेरे विचार भी ज्ञात हो जाएं। परन्तु प्रारम्भिक चार फार्मों में नीचे एतद् विषयक संकेत करके भी शरीर की अस्वस्थता और कार्याधिक्य के कारण इस ग्रन्थ में न दे सका।

यह ग्रन्थ आश्विन मास तक प्रकाशित हो जाता, किन्तु उसी काल में मेरे अत्यधिक रुग्ण हो जाने तथा वृक्क की शल्यचिकित्सा कराने के कारण ३-४ मास विलम्ब से प्रकाशित हो रहा है।

मेरा 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ का द्वितीय भाग, जो कई कारणों से अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ था, सम्प्रति छप रहा है।[1] उसके 'गणपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता' अध्याय के संशोधन में इस ग्रन्थ से पर्याप्त सहायता ली है। इसलिए यद्यपि दोनों ग्रन्थों में अनेक विषयों में समानता उपलब्ध होने पर भी दृष्टिभेद के कारण बहुत स्थानों पर वैमत्य दृष्टिगोचर होगा।

प्राचीन संस्कृत वाङ्मय के उद्धार, अध्ययन तथा प्रसार की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूं। इसलिए पाणिनि आदि के काल तथा कतिपय अन्य मतभेद होने पर भी मैं इस ग्रन्थ को यथाशक्ति सम्पादित करके प्रकाशित कर रहा हूँ।

वादे वादे जायते तत्त्वबोधः शास्त्रकारों की इस उक्ति के अनुसार मित्र महोदय के अत्यन्त धैर्य, दृढ़ अध्यवसाय तथा विद्वत्ता से किए गए इस अनुसन्धान कार्य से गवेषण कार्य में रत महानुभावों को निश्चय ही लाभ होगा और भविष्य में इस क्षेत्र में कार्य करने वालों को न केवल विचार-विनिमय के लिए इससे नई सामग्री प्राप्त होगी, अपितु उनके लिए यह ग्रन्थ प्रकाश-स्तम्भ के समान परम उपयोगी सिद्ध होगा।

भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान
२४/२१२ रामगंज, अजमेर

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

---

१. यह भाग २–३ मास तक तैयार हो जायगा। प्रथम भाग का भी संशोधित तथा परिवर्धित संस्करण शीघ्र प्रकाशित होगा।

लेखक का आत्मनिवेदन

लोकोत्तर महापुरुषों तथा महान् मनीषियों के इस भारत देश में न्यूनातिन्यून ढाई सहस्र वर्ष पूर्व परम-ओजस्विनी प्रतिभा से समन्वित शब्द-शास्त्र के एक महान् आचार्य का प्रादुर्भाव हुआ जिसका नाम था पाणिनि। इस प्रमाणभूत महान् ऋषि ने अपने से पूर्व विद्यमान लौकिक तथा वैदिक संस्कृत की दृष्टि से लिखे गये काशकृत्स्न, भागुरि, आपिशलि आदि अनेक आचार्यों के विभिन्न व्याकरणों से पूरी सहायता लेते हुए भी उन्हें अपनी संक्षिप्तता, व्यापकता तथा सुविहितता से अतिक्रान्त कर जाने वाले, आदर्श सूत्र-शैली में निबद्ध एक ऐसे व्याकरण-शास्त्र की रचना की, जो अद्ययावत् संस्कृत वाङ्मय के सम्पूर्ण प्रदेशों को अपनी सूत्र-रश्मियों से सर्वथा सुप्रकाशित करता हुआ तथा उत्तरवर्ती चन्द्रगोमी, देवनन्दी (जैनेन्द्र) पाल्यकीर्ति (जैन शाकटायन) हेमचन्द्र तथा भोज आदि के अनेक व्याकरणों को अपनी आभा के मुक्त-दान से साकार बनाता हुआ, महान् प्रकाश-स्तम्भ का कार्य कर रहा है।

इस व्याकरण का लोकप्रसिद्ध नाम है अष्टाध्यायी। यह अपने निर्मिति-काल से ही इस विषय के विशिष्ट विद्वानों को निरन्तर अपनी ओर आकृष्ट करती रही और तब तक करती रहेगी, जब तक संस्कृत-भाषा का किसी न किसी रूप में इस धरातल पर अस्तित्व पाया जा सकेगा। अपने इस कथन की पुष्टि में मैं उन अनेक वृत्तिकारों, वार्तिककारों, भाष्यकारों टीकाकारों, व्याख्याताओं तथा लेखकों को साक्षी के रूप में प्रस्तुत करना चाहूँगा, जिन्होंने यथावसर अपनी अमूल्य सेवायें उस महान् आचार्य के पवित्र चरणों में प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से अर्पित करके अपने को कृतार्थ माना है। इनमें मूर्धन्य हैं कात्यायन तथा पतञ्जलि।

किसी भी व्याकरण के लिये यह आवश्यक है कि वह जिस भाषा का हो, उसके सामान्य गठन एवं परिष्कार के लिये, विभिन्न नियमों तथा उपनियमों की कल्पना को तो उस व्याकरण में आकार दिया ही जाए, साथ

ही उस भाषा के यथा-संभव सभी शब्दों की सुनिष्पन्नता की दृष्टि से भी प्रकृति प्रत्यय की वैज्ञानिक स्वाभाविक एवं सुव्यवस्थित निर्धारणा को भी सुप्रतिष्ठित किया जाए, जिससे यदि एक ओर सम्पूर्ण शब्दों के विभिन्न अर्थों का परिज्ञान अल्पप्रयास से हो जाए तो दूसरी ओर शब्दों को अपभ्रष्टता के सम्पर्क से दूर रखा जा सके। **'येन अल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्'[1], म्लेच्छा मा भूम'[2]** इन वाक्यों द्वारा महाभाष्यकार पतञ्जलि ने व्याकरण के इन्हीं प्रधान प्रयोजनों की ओर संकेत किया है। जिस प्रकार सक्तु की परिष्कृति के लिये सक्तुशोधक उसे सहस्र छिद्रों से युक्त चालनी से शोधता है, ठीक उसी प्रकार वैयाकरण भी सहस्रों प्रकृति-प्रत्यय-निर्धारक नियमों की चालनी से स्वसम्बद्ध भाषा को उसकी परिष्कृति के लिये छानना चाहता है।

कहने की आवश्यकता नही कि पाणिनि की परम ओजस्विनी अष्टाध्यायी मे विशाल संस्कृत वाङ्मय के यथासम्भव सभी शब्दों के प्रकृति-प्रत्यय के निर्धारण वा परिगणन का निश्चित ही बड़ा व्यापक, परन्तु संक्षिप्त एवं वैज्ञानिक प्रयास किया गया है। इनमें प्रत्ययों का प्रदर्शन तो सामान्य तथा विशेष अथवा उत्सर्ग और अपवाद सूत्रों का साहाय्य लेकर थोड़े सूत्रों द्वारा हो गया है। परन्तु अनेकविध एवं सहस्रशः प्रकृतियों के परिगणन के लिये पाणिनि ने धातु-प्रकृतियों की दृष्टि से धातुपाठ तथा नाम अथवा प्रातिपदिक प्रकृतियों की दृष्टि से प्रातिपदिकपाठ अथवा गणपाठ का सूत्रपाठ से पृथक् निर्धारण किया। क्योंकि अष्टाध्यायी के सूत्रों की संक्षिप्तता को देखते हुए उनमे इन धातु तथा नाम रूपी सभी प्रकृतियों का प्रदर्शन संभव अथवा उचित नहीं था।

यों तो पाणिनि से पूर्व भी धातुपाठ तथा गणपाठ का निर्धारण अथवा दूसरे शब्दों में गणशैली का उद्भव हो चुका था, इसके अनेक प्रमाण पाठकों को अगले पृष्ठों में मिलेगें, परन्तु पाणिनि के धातुपाठ तथा गणपाठ का अपना एक विशिष्ट महत्त्व है, जिसे प्रायः सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। इसलिये पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्रपाठ के समान ही उसके अभिन्न अङ्ग धातुपाठ तथा गणपाठ का अध्ययन भी संस्कृत व्याकरण के जिज्ञासुओं के लिये महान् उपादेय हैं। इस बात को यदि और अधिक स्पष्टता के साथ कहा

१. महा० नवाह्निक, पृष्ठ ५२। २. महा० नवाह्निक, पृष्ठ २६।

जाए तो यों कहा जा सकता है कि अष्टाध्यायी के अनेकानेक सूत्र इन धातुपाठ तथा गणपाठ से इतने अधिक सुसम्बद्ध हैं कि इनके सम्यग् अध्ययन एवं परिज्ञान के बिना अष्टाध्यायी की व्याख्या हो ही नहीं सकती और यदि की भी जाए तो वह अपूर्ण रहेगी। इसलिये इस रूप में धातुपाठ तथा गणपाठ संस्कृत व्याकरण की आधार-शिला होने के कारण, विशिष्ट महत्त्व रखते ही हैं, परन्तु व्याकरण के क्षेत्र से बाहर भी इन दोनों की जो बहुत कुछ उपादेयता एवं महत्ता हैं, उसकी उपेक्षा नहीं की सकती।

जहाँ तक धातुपाठ का सम्बन्ध है यह सन्तोष का विषय है कि विद्वानों ने उसकी ओर पर्याप्त ध्यान दिया है। इसके फलस्वरूप धातुप्रदीप, धातुवृत्ति तथा क्षीरतरङ्गिणी सदृश पाणिनीय धातुपाठ से सम्बन्ध प्रामाणिक व्याख्या-ग्रन्थ आज भी उपलब्ध एवं सुप्रतिष्ठित हैं। परन्तु गणपाठ सम्भवतः सदा से ही विद्वानों एवं व्याख्याताओं तथा टीकाकारों की उपेक्षा का पात्र रहा है।

यह सत्य है कि पाणिनीय गणपाठ की दो एक व्याख्यायें अवश्य लिखी गईं थीं (जिनकी चर्चा आगे की जायगी) पर आज उनका केवल नाम मात्र ही, और वह भी कहीं कहीं उद्धरणों के रूप मे ही शेष रह गया है। पाणिनीय-व्याकरण-सम्प्रदाय के क्षेत्र से बाहर, किसी अज्ञात व्याकरण से सम्बद्ध, वर्धमान की गणरत्नमहोदधि अवश्य एक ऐसी व्याख्या वा वृत्ति है, जिसे देखकर महती प्रसन्नता होती है। तथा इससे गणपाठ की स्थिति चाहे वह किसी भी व्याकरण से सम्बद्ध क्यों न हो, मर्यादित, सुसंयमित एवं सुस्पष्ट रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होती है। परन्तु पाणिनीय सम्प्रदाय की दृष्टि से गणपाठ के विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता की पूर्ति इस ग्रन्थ से नहीं हो पाती।

सम्भवतः वर्धमान की गणरत्नमहोदधि के आधार पर ही गत शताब्दी में भट्ट यज्ञेश्वर नामक किसी विद्वान् ने पाणिनीय गणपाठ की गणरत्नावली नामक व्याख्या लिखी। परन्तु यह व्याख्या भी इतनी संक्षिप्त एवं अस्पष्ट सी है कि साम्प्रतिक विद्वानों की दृष्टि से सर्वथा उपेक्षित एवं ओझल हो कर नगण्यता की श्रेणी में आ चुकी है।

गणपाठ के साथ की गई इस उपेक्षा का कारण यह प्रतीत होता है कि इन टीकाकारों की दृष्टि में, गणपाठ की अपेक्षा धातुपाठ का महत्त्व

अधिक रहा। परन्तु केवल व्याकरण दृष्ट्या गणपाठ की अपेक्षा धातुपाठ का अधिक महत्त्व स्वीकार करते हुए भी गणपाठ का महत्त्व किसी प्रकार भी कम नहीं आंका जा सकता। पाणिनीय अष्टाध्यायी तथा संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से इसका जो महत्त्व हैं, वह तो है ही, परन्तु उसके अतिरिक्त प्राचीन भारत के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं भौगोलिक अध्ययनों में भी इससे विविध उपयोगी सहायता एवं संकेत प्राप्त किये जा सकते हैं। प्राचीन भारती के गम्भीर अन्वेषक एवं सतत अध्यवसायी उपासक डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की प्रतिष्ठित पुस्तक 'इण्डिया एज नोन टु पाणिनि' को इस तथ्य के स्पष्ट उद्घोषक के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। साथ ही गोत्रनामों की मूल प्रकृतियों से अपत्यार्थ तद्धित प्रत्ययों का विधान करता हुआ पाणिनीय गणपाठ गोत्रनामों की एक विस्तृत सूची प्रस्तुत करता है जो बहुत कुछ श्रौतसूत्रों के प्रवराध्यायों की सूचियों से मिलती जुलती है। इसलिए सम्प्रति उपलब्ध गणपाठों मे सबसे प्राचीन पाणिनि के इस गणपाठ की ओर से आखें बन्द नहीं की जा सकतीं।

इतना होने पर भी दुर्भाग्य की बात है कि इस गणपाठ के सथ की गई उपेक्षा के परिणाम-स्वरूप आज वह विभिन्न पाठभेदों तथा भ्रष्टपाठों से परिपूर्ण एक ऐसा रद्दी का टोकरा बन गया है, जिसके बहुत से अंश वैयाकरणों की समझ से भी परे की वस्तु बन गये हैं। पाणिनीय गणपाठ के दो तीन विभिन्न संस्करणों की आपस मे अथवा इनकी पाणिनि से इतर अर्वाचीन वैयाकरण सम्प्रदायों से सम्बद्ध गणपाठों की पारस्परिक तुलना करने पर पाठभेदों की जो भयंकर स्थिति सन्मुख उपस्थित होती है, उसे देखकर हृदय कम्पित हो उठता है। इसमें अनावश्यक शब्दों का अमर्यादित सन्निवेश तथा गणसूत्रों की भयंकर उलझनें पाठभेदों तथा अपभ्रष्ट पाठों के साथ मिलकर गणपाठ के अनेक स्थलों के स्वरूप के विषय में सन्देह उत्पन्न करने लगते हैं। वैसे तो संस्कृत भाषा का कोई भी प्राचीन ग्रन्थ, विशेषतः इस प्रकार का, पाठभेदों के दोष से बचा नहीं है, परन्तु पाणिनीय गणपाठ इस दृष्टि से सबसे आगे है। इसलिये इसकी तथाविध महत्ता, एवं साथ ही इस प्रकार की दयनीय स्थिति को देखते हुए इसके विशुद्ध सम्पादन एवं तत्सम्बद्ध विभिन्न समस्याओं के विषय में विस्तृत अनुसन्धान की प्राथमिक आवश्यकता स्वीकार करनी ही पड़ती है।

सन् १८४० में ओटो बोथलिंक महोदय ने पाणिनि के सूत्रपाठ तथा धातुपाठ के साथ गणपाठ का भी एक अपेक्षाकृत अच्छा संस्करण निकाला था। इसके लिये वे निश्चय ही धन्यवाद के पात्र हैं, परन्तु इस संस्करण को ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि वह भट्ट यज्ञेश्वर की गणरत्नावली तथा पाणिनीय गणपाठ के दो एक हस्तलेखों के आधार पर ही आश्रित है। इसलिये इसे भी विशेष प्रामाणिकता नहीं दी सकती। इसके अतिरिक्त केवल मूल पाठ के प्रकाशित कर देने से ही आपेक्षिक कार्य की पूर्ति नहीं हो जाती।

वस्तुत: गणपाठ को अपने विशुद्ध रूप में प्रस्तुत करने अथवा उसके स्वरूप को सर्वथा सुस्पष्ट करने के लिये तीन प्रकार के कार्य परम आवश्यक हैं। प्रथम—गणपाठ के प्रत्येक शब्द का निश्चितीकरण, पाठभेदों की बहुलता में अपेक्षित शब्द का चयन और इस रूप में पाणिनीय-गणपाठ का पुनर्गठन (Reconstruction)। द्वितीय–गणपाठ के सभी शब्दों का अर्थ परिज्ञान (Interpretation) तथा तीसरा—इसमें संगृहीत ऐतिहासिक, भौगोलिक, साहित्यिक अथवा इसी प्रकार के अन्य वैयक्तिक नामों की ठीक ठीक पहचान (Identification)। वैसे तो ये तीनों ही कार्य थोड़ा बहुत एक दूसरे कार्य पर आश्रित हैं। फिर भी संशोधन वा पुनर्गठन रूपी प्रथम कार्य निश्चित ही प्राथमिक महत्त्व रखता है। इसके यथासाध्य पूर्ण हो जाने पर ही अन्य दोनों कार्य भले प्रकार किये जा सकते हैं।

मैंने अभी तक गणपाठ के केवल सामान्य संशोधन तक ही अपने अध्ययन को सीमित रखा है। इसके दो कारण हैं—एक तो इसकी प्राथमिक आवश्यकता, दूसरे अन्य दोनों कार्यों की बहुत अधिक समय-सापेक्षता। सम्माननीय डा० रघुवीर, अध्यक्ष "सरस्वती विहार" देहली ने गणपाठ के कठिन शब्दों के अर्थ निश्चय का कार्य करने के लिये बड़े सहानुभूतिपूर्ण शब्दों में प्रेरणा की थी, जिससे प्रेरित होकर इस दिशा में मैंने कुछ प्रयास किया भी। परन्तु कुछ कार्य करने पर सबसे बड़ी कठिनाई जो सामने आई, वह थी कि गणपाठ के अज्ञातार्थक शब्दों में ऐसे शब्दों की बहुत अधिक संख्या, जिनके विषय में कहीं से कोई सहायता अथवा संकेत मिलने की आशा नहीं थी। इसलिये इस कार्य को कुछ काल के लिए स्थगित कर देना पड़ा, परन्तु इसे करने की इच्छा अवश्य है।

जहाँ तक तीसरे कार्य का सम्बन्ध है, उस विषय में मैं प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के क्षेत्र के किसी अन्वेषक साथी से आशा करूँगा कि वह इस कार्य को अपने हाथ में लें। इस विषय में कार्य करने की दिशा तथा पद्धति के पर्याप्त संकेत श्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने पूर्वनिर्दिष्ट पुस्तक मे दिए हैं, उनके सहारे पर्याप्त आगे बढ़ा जा सकता है।

पाणिनीय गणपाठ के संशोधन एवं सम्पादन का यह कार्य मैंने Ph. D. की उपाधि की दृष्टि से बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में आरम्भ किया था। इस निबन्ध को मैंने जिस रूप मे प्रस्तुत किया था, वह तीन भागों में विभक्त था—भूमिकाभाग, ग्रन्थभाग, (पाणिनि का गणपाठ) तथा आलोचना भाग अथवा आलोचनात्मक टिप्पणी।

प्रथम भाग में मैंने यथासाध्य यह प्रयास किया है कि पाणिनीय गणपाठ सम्बन्धी विभिन्न विषयों एवं समस्याओं पर अपने विचार विस्तार से प्रस्तुत करूं। जिन विषयों पर विचार प्रस्तुत किया जा सका है उनमे प्रमुख हैं—संस्कृत व्याकरण की सूत्रशैली मे गणपाठ की आवश्यकता, पाणिनि से पूर्व के गणकार, पाणिनि के गणपाठ का स्वरूप तथा उसकी विभिन्न समस्याएँ, पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरणो के गणपाठो का पाणिनीय गणपाठ से सम्बन्ध, पाणिनीय गणपाठ का महत्त्व तथा उसके संशोधन का सम्भव प्रकार।

द्वितीय भाग मूल ग्रन्थभाग है। इसमें पाणिनीय गणपाठ को यथासम्भव शुद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस भाग का प्रत्येक पृष्ठ सामान्यतया तीन अंशो में विभक्त है।

प्रथम—सब से ऊपर के अंश मे पाणिनीय सम्प्रदाय की दृष्टि से प्रत्येक गण को प्रस्तुत किया गया है। इसमे प्रायः उन्ही शब्दो को स्थान गया गया है जो पाणिनीय गणपाठ के विभिन्न स्रोतों मे उपलब्ध होते हैं अथवा किसी अन्य प्रमाण के आधार पर पाणिनीय प्रमाणित हो जाते हैं।

इसी भाग मे प्रायः प्रत्येक गण के अन्त मे '**परिशिष्टम्**' शीर्षक से मैंने उन सभी शब्दों के संग्रह का प्रयास किया है, जो पाणिनीय सम्प्रदाय के केवल कुछ स्रोतों मे अथवा केवल अपाणिनीय सम्प्रदाय के गणपाठ सम्बन्धी स्रोतों में ही उपलब्ध होते हैं, जिन्हें यहाँ पाणिनीय गणपाठ में स्थान नहीं दिया है। इन शब्दों के पते नीचे फुट नोट में दे दिये गये हैं।

द्वितीय (मध्य का) अंश '**पाठभेदाः**' का है। इस अंश में पहले यह दिखाया गया है कि पाणिनि के, ऊपर के प्रथम-अंश में निर्दिष्ट वे वे गण स्वयं पाणिनि सम्प्रदाय के विभिन्न प्रमुख स्रोतों मे तथा अपाणिनीय अथवा पाणिनि से अर्वाचीन विविध व्याकरण-सम्प्रदायों में कहाँ कहाँ मिलते हैं। इन सबके अध्याय आदि के अनुसार पते दिये गये हैं। तदनन्तर इन सभी स्रोतो में मिलने वाले आवश्यक एवं उपादेय पाठभेदों का संग्रह किया गया है।

तीसरे (सबसे नीचे के) अंश में '**विशिष्टं किञ्चित्**' के शीर्षक से जिस किसी भी शब्द के विषय में कोई महत्त्वपूर्ण विवाद, उद्धरण, विशेष प्रयोग अथवा अन्य किसी प्रकार की कोई उपादेय सामग्री मिल सकी, उन सब का चयन इस दृष्टि से किया गया है कि उन सबके प्रकाश में उन शब्दों की स्थिति के विषय में कुछ प्रकाश प्राप्त किया जा सके।

यहाँ मैं इतना और निवेदन करदूँ कि गणसूत्रों को तथा अन्य अनेक शब्दों के पाठ को विभिन्न प्रमाणों के आधार पर यद्यपि मैं पाणिनीय नहीं मानता, फिर भी पाणिनीय गणपाठ के ग्रन्थ भाग में उन्हें इसलिये स्थान देने के लिये बाध्य हूँ कि मेरे पास कोई ऐसा अकाट्य प्रमाण नहीं है कि मैं इदमित्थंतया सुनिश्चित रूप से पूरे विश्वास के साथ यह कह सकूँ कि ये गण-सूत्र अथवा ये शब्द कथमपि पाणिनि-प्रोक्त अथवा तन्निर्धारित नहीं है। वस्तुतः ऐसे प्रसंगों में इस प्रकार के सर्वथा निश्चायक प्रमाण प्रायः उपलब्ध भी नहीं होते। वैसे पूरी सम्भावना इस बात की ही है कि ये पाणिनीय नहीं हैं। मैं केवल इतना ही आवश्यक समझता हूँ कि अपने विचार विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत कर दूँ। केवल अपने विचारों के अनुसार, भले ही वे सप्रमाण भी क्यों न हों, पाणिनीय गणपाठ में परिवर्तन करने अथवा उसके किसी अंश को घटाने बढ़ाने को मैं उचित नहीं समझता। विशेषतः उस अवस्था में, जब कि ये गणसूत्र सभी पाणिनीय स्रोतों मे उपलब्ध होते चले आरहे हैं।

तीसरे भाग—आलोचनात्मक टिप्पणी में पाणिनीय गणपाठ के कुछ विशिष्ट शब्दों तथा गणों के स्वरूप के विषय में प्रामाणिक आचार्यों तथा विद्वानों के उपलब्ध विचारों, विवादों, उद्धरणों अथवा प्रयोगों के आधार

पर कुछ विचार प्रस्तुत किये गये हैं। इनमें उन उन स्थलों की वास्तविक स्थिति तथा स्वरूप आदि के परिज्ञान विषय में अपना निर्णय दिया है।

ऊपर के तीन भागों में से केवल यह प्रथम–भूमिका–भाग 'संस्कृत-व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि' इस नाम से प्रकाशित होकर आपके समक्ष है। शेष दो भाग अभी प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं। परन्तु उनके प्रकाशन में भी बहुत देर नहीं लगेगी, ऐसी आशा है।

पुस्तक के विषय में इतना निवेदन करने के पश्चात् मैं अपना यह पुनीत कर्तव्य समझता हूं कि उन पूज्य हितैषियों तथा आत्मीय गुरुचरणों के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा निवेदन करूँ, जिनकी कृपा, अनुकम्पा और आशीः के वल से ही मैं इस योग्य हुआ कि इस विषय पर कुछ लिख सकूँ।

इस प्रसंग में सर्वप्रथम मैं अपने ज्येष्ठ भ्राता सन्तहृदय श्री सन्तबली जी आर्य के पावन चरणों में अपनी श्रद्धा अर्पित करना चाहता हूँ जिनकी सन्निष्ठाओं, सत्प्रेरणाओं, शुभकामनाओं, तथा आशीर्वाद ततियों ने मुझे संस्कृताध्ययन में लगाया तथा इस योग्य बनाया।

परम श्रद्धेय गुरुवर श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु, अध्यक्ष पाणिनि-महाविद्यालय, मोतीझील, वाराणसी, के पुनीत चरणों में हृदय की पूरी विनम्रता के साथ मैं श्रद्धानत हूँ, जिन्होंने अपने पहले के आश्रम–विरजानन्द सांगवेद विद्यालय, शाहदरा, लाहौर—में वर्षों रखकर संस्कृत-व्याकरण के मौलिक ग्रन्थों के अध्ययन के लिये मुझे बौद्धिक आँखें दीं तथा मेरी हर प्रकार से सहायता की।

परम सम्मान्य गुरुचरण डा० सूर्यकान्तजी शास्त्री, एम० ए०, डी० फिल् (आक्सन), डी० लिट् (पंजाब) मयूरभंज प्रोफेसर, अध्यक्ष-संस्कृत प्राकृत, पाली विभाग तथा प्रिंसिपल कालेज आफ इण्डालाजी. के अनेकानेक उपकारों को मैं विनीत श्रद्धा के साथ स्मरण करता हूँ तथा उनके प्रति मैं सर्वात्मता नत हूँ, जिन्होंने आलोचना के आज के नवीन दृष्टिकोण से मुझे परिचित कराया।

संस्कृत वाङ्मय के प्रतिष्ठित उपासक तथा अपने श्रद्धेय गुरु श्री पं० बलदेव उपाध्याय का मैं परम कृतज्ञ हूँ, जिनके सफल निर्देशन में यह निबन्ध पी एच० डी० की थीसिस के रूप में सम्पन्नता की स्थिति को प्राप्त कर सका।

समादरणीय श्रीमान् डा० राजबली पाण्डे एम. ए. डी. लिट्. भूत-पूर्व अध्यक्ष-प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति तथा प्रिंसिपल कालेज आफ इण्डालाजी के प्रति मैं विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने इस विषय के अध्ययन में पुस्तकों की यथेच्छ सहायता तथा अन्य सुविधायें प्रदान कर मुझे सदा अनुगृहीत किया।

परन्तु जहां तक इस पुस्तक का सम्बन्ध है, मैं सर्वाधिक ऋणी तथा आभारी हूं अपने पूज्य गुरुचरण तथा प्राचीन भारती के गम्भीर एवं यशस्वी उपासक श्री पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक, अध्यक्ष-अनुसन्धान-विभाग महर्षि दयानन्द स्मारक, टङ्कारा (सौराष्ट्र) संस्थापक भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान. अजमेर, का, जिन्होंने, सर्वप्रथम, अनुसन्धान के लिये पाणिनीय गणपाठ की ओर न केवल मेरा ध्यान आकृष्ट किया, अपितु निरन्तर मुझे इस कार्य को पूर्ण करने के लिये प्रेरित करते रहे, समय समय पर उपयोगी निर्देशन तथा पथप्रदर्शन द्वारा मेरी कठिनाइयों को दूर करते रहे, तथा अन्त में थीसिस के पूर्ण हो जाने पर उसके सम्पादन तथा प्रकाशन का पूरा भार अपने ऊपर लिया और असाधारणतया अस्वस्थ होते हुए भी अपने विशेष अध्यवसाय एवं परिश्रम से इस पुस्तक के प्रकाशन को पूरा किया, जिसका परिणाम पाठकों के समक्ष है।

पूज्य पण्डितजी ने पुस्तक का सम्पादन करते हुए कुछ स्थलों पर मेरे विचारों से असहमति दिखाई है। अनुसन्धान मार्ग में विशेषतः इस तरह के विषयों में असहमति का होना अस्वाभाविक न होकर सर्वथा स्वाभाविक ही है। परन्तु मैं पण्डितजी का विशेश कृतज्ञ हूं जिन्होंने इन असहमतियों के होते हुए भी उदारता पूर्वक अपने 'प्रतिष्ठान' से न केवल इस पुस्तक को प्रकाशित ही किया, अपितु इसको सर्वथा अपनी पुस्तक समझते हुए इसकी स्वरूप-निष्पत्ति में अपनी सम्पादन-कुशलता का भी पूरा योग दिया।

सम्माननीय पण्डितजी के विषय में मैं इतना और निवेदन करना चाहता हूं कि अपनी प्रतिभा एवं शास्त्र-व्युत्पत्ति की पूंजी के साथ विभिन्न सांसारिक संघर्षों तथा अपनी शारीरिक अस्वस्थताओं से सतत जूझते हुए प्राचीन संस्कृत भारती की अनेक जटिल गुत्थियों के उद्धरण, अन्वेषण

एवं अनुसन्धान मे मीमांसकजी जितना, जो कुछ कर रहे हैं तथा जिस तन्मयता सूक्ष्मदर्शिता और निष्ठा के साथ निरन्तर कार्यरत हैं, उसका पूरा-पूरा सत्परिणाम, केवल सुविधाओं एवं साधनों के अभाव के कारण, भले ही विद्वानों के समक्ष न आसके, परन्तु उनके आत्मीयजन उन सबसे भली भांति परिचित हैं। विश्वविद्यालयों के इस क्षेत्र मे अन्वेषण-कार्य जिस शिथिलता के साथ गति कर रहा है, उसे गतिमान् ओजस्वी एवं प्रौढ़ बनाने के लिये पण्डितजी जैसे शास्त्रज्ञों तथा प्राचीन-पाण्डित्य-परम्परा के कुछ बचे हुए प्रतिनिधियों का सहयोग परम उपादेय एवं हितावह हो सकता है, जिससे आज का विश्वविद्यालयीय वातावरण केवल इसलिये सर्वथा अछूता है कि इनके पास विश्वविद्यालयों के कागजी प्रमाणपत्र नहीं हैं। निश्चित ही इस स्थिति को आज के अनुन्धान मार्ग का दुर्भाग्य कहा जा सकता है।

कृतज्ञता के इस प्रसंग में अपने परम स्नेही मित्र श्री जगदीशनारायण तिवारी एम. ए. प्राध्यापक प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस को भी विशेष रूप से याद करता हूँ जिन्होने थीसिस आदि लिखते समय मुझे तद्‌विषयक अनेक उपयोगी सम्मतियां दीं तथा विविध रूपों में मेरी सहायता की।

कुरुक्षेत्र
२३ सितम्बर १९६१

विद्वानों का परम विनीत
कपिलदेव

कतिपय सांकेतिक-शब्द

अ० प्रा० या अथर्व प्राति०	अथर्व-प्रातिशाख्य
अम०	अमरकोष
ऋक्प्रा०	ऋक्प्रातिशाख्य
का०	काशिका
कातं०	कातन्त्र व्याकरण
का० छ० प्र०	कातन्त्र-छन्दःप्रक्रिया
चन्द्र०	चन्द्रगोमी
चा० वृ०	चान्द्र-वृत्ति
चा० सू०	चान्द्र-व्याकरण सूत्र
जै०	जैनेन्द्र-व्याकरण
तै० प्रा०	तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य
धा० वृ०	धातुवृत्ति
प० म०	पदमञ्जरी
परि०	परिभाषेन्दुशेखर
पा०	पाणिनीय-अष्टाध्यायी
प्रा० सू०	प्राकृतसूत्र
भो०	भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण
महा०	महाभाष्य
महा० नवा०	महाभाष्य नवाह्निक
मु० बो०	मुग्धबोध-व्याकरण
मो० ग०	मोग्गलान-गणपाठ
लघु०	लघुशब्देन्दुशेखर
वा० प्रा०	वाजसनेय-प्रातिशाख्य
व्या० सि० सु० नि०	व्याकरण-सिद्धान्त-सुधा-निधि
श० कौ०	शब्दकौस्तुभ
शा० अ०	शाकटायन व्याकरण-अमोघावृत्ति

शाकटायन	शाकटायन-व्याकरण
सं० व्या० शास्त्र का इतिहास	संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास
सारस्वत०	सारस्वत-व्याकरण
सि० च०	सिद्धान्त चन्द्रिका
स्व० सि० च०	स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका
है० या हैम	हैम-व्याकरण
है० वृ०	हैम-व्याकरण-बृहद्वृत्ति

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१.	**संस्कृत-व्याकरण-शास्त्र तथा गणशैली**	१–१४
	संस्कृत-व्याकरण-शास्त्र का प्रयोजन	१–३
	संस्कृत-व्याकरण मे सूत्र-शैली	३–४
	सूत्रशैली का स्वरूप	४–६
	सूत्रशैली की परम्परा	७–१०
	सूत्रशैली मे गणपाठ और धातुपाठ का स्थान	१०–११
	गणपाठ का अभिप्राय	११–१२
	गणशैली का आरम्भ	१२–१४
२.	**पाणिनि से प्राचीन वैयाकरण और उनके गणपाठ**	१५–३६
	ऐन्द्र व्याकरण तथा गणशैली	१६–१७
	वैदिक प्रतिशाख्यों की पाणिनि से प्राचीनता	१७
	ऋक्-वाजसनेय-तैत्तिरीय-प्रातिशाख्यों मे गणशैली	१७–१६
	ऋक्तन्त्र तथा गणशैली	१६–२१
	अथर्व-प्रातिशाख्य तथा गणशैली	२१–२३
	भारद्वाज-शिक्षा तथा गणशैली	२३
	भागुरि तथा गणशैली	२३–२४
	काशकृत्स्न तथा गणशैली	२५
	आपिशलि तथा उनका गणपाठ	२५–२६
	उणादिसूत्र तथा गणशैली	२७–२८
	फिट्सूत्र तथा गणशैली	२८–२९
	अष्टाध्यायी से प्राप्त संकेत	२६–३०
	पाणिनीय-गणपाठ से प्राप्त संकेत	३०–३६
	कात्यायन तथा पतञ्जलि के संकेत	३६–३७
	चाक्रवर्मण का सर्वादिगण	३७–३८
	वर्धमान के संकेत	३८–३६

अध्याय	विषय	पृष्ठ
३.	**आचार्य पाणिनि और उनका गणपाठ**	४०-१०४
	पाणिनि का समय	४०-४१
	पाणिनि की सूत्रशैली	४१-४२
	सूत्र-रचना के पूर्व ही गणपाठ का निर्धारण	४२
	सूत्रों का साक्ष्य	४२-४६
	वार्तिकों का साक्ष्य	४६-४७
	महाभाष्य का साक्ष्य	४७-४८
	न्यासकार के आक्षेप	४८-४६
	न्यासकार के आक्षेपों का समाधान	४६-५२
	न्यासकार का वदतोव्याघात	५२-५३
	आई० एस० पावते की हेय कल्पना	५३
	गणनिर्धारण में प्राचीन गणकारों की अनुकृति	५४-५६
	गणों के दो प्रकार	५६-५७
	आकृतिगण	५७-५८
	आकृतिगणों में व्याख्याकारों द्वारा प्रक्षेप	५८-६०
	हमारा मन्तव्य	६०
	आकृतिगण तथा उत्तरवर्ती वैयाकरण	६०
	आकृतिगणता के द्योतक शब्द	६१-६२
	आकृतिगण-शैली की प्रथम आविष्कृति	६२
	पाणिनीय-तन्त्र मे आकृतिगणता का उपयोग	६२-६३
	आकृतिगणात्मक शैली पर आक्षेप	६३-६४
	पठितगण	६४
	समाप्तिबोधार्थ वृत्करण	६४-६६
	गणपाठ का द्विविध पाठ	६६
	कतिपय गणों में निष्पन्न शब्दों का पाठ	६७
	निपातन-शैली पर आक्षेप और उसका समाधान	६६-६६
	गणों में शब्दों का निर्विभक्तिक पाठ	६६
	क्वचित्-सविभक्तिक पाठ	६६-७०
	क्वचिद् वाक्य-प्रयोग	७०
	गण में शब्द-विशेष के प्रथम पाठ का कारण	७१-७४

अध्याय	विषय	पृष्ठ
	गणपाठ में अवान्तर गण	७४-७७
	गणपाठ में शब्दों का क्रम	७७-८१
	पाणिनीय-गणपाठ मे अपाणिनीयगण	८१-८३
	पाणिनीय-गणपाठ में औणादिकगण	८३
	गणनिर्धारण मे शब्दों का इयत्ता	८३-८४
	गणपाठ में उपलभ्यमान गणसूत्रों की समस्या	८४-८५
	गणसूत्रों के अपाणिनीयत्व में हेतु	८५-९०
	गणसूत्रों के विषय मे हमारा मत	९०-९१
	कात्यायन तथा पतञ्जलि की दृष्टि में पाणिनीय गणपाठ	९२-९८
	जयादित्य-वामन और पाणिनीय गणपाठ	९९-१०१
	पाणिनीय-गणपाठ के व्याख्याकार	१०१-१०३
	श्लोकगणकार	१०३
	नामपारायण	१०३-१०४
	गणरत्नावली	१०५
४.	**पाणिनि से उत्तरवर्ती वैयाकरण और उनके गणपाठ**	**१०६-१४६**
	चन्द्रगोमी तथा उसका गणपाठ	१०७-११३
	जैनेन्द्र-व्याकरण तथा उसका गणपाठ	११३-११४
	जैन-शाकटायन-व्याकरण तथा उसका गणपाठ	११४-१२३
	हेमचन्द्र तथा उसका गणपाठ	१२३-१२६
	श्रीभोज तथा उसका गणपाठ	१२६-१२८
	वैयाकरण वामन तथा उसका गणपाठ	१२८-१२९
	भद्रेश्वर तथा उसका गणपाठ	१२९-१३०
	अरुणदत्त का गणपाठ	१३०
	वर्धमान तथा उसकी गणरत्नमहोदधि	१३०-१३६
	कातन्त्र-व्याकरण में प्राप्त गण	१३६-१३८
	सारस्वत-व्याकरण में प्राप्त गण	१३८-१४१
	मुग्धबोध-व्याकरण में प्राप्त गण	१४१-१४२
	जौमर सम्प्रदाय में गणपाठ	१४३

अध्याय	विषय	पृष्ठ
	सौपद्म सम्प्रदाय में गणपाठ	१४३
	प्राकृत तथा पालि व्याकरणों में गणपाठ	१४३
	प्राकृत सूत्रों मे गणपाठ	१४३–१४४
	मोग्गलान के पालि-व्याकरण मे गणपाठ	१४४–१४६
५.	**पाणिनीय गणपाठ का महत्त्व**	१४६–१५२
	व्याकरण विषयक महत्त्व	१४८–१४६
	प्राचीन वैयाकरणों के नाम	१४९
	तत्कालीन वैदिक तथा लौकिक साहित्य का परिचय	१४६–१५०
	गोत्रनाम	१५०–१५१
	ऐतिहासिक तथा भौगोलिक नाम	१५१–१५२
६.	**पाणिनीय गणपाठ के संशोधन की समस्या तथा उसका समाधान**	१५३–१६८
	प्रक्षेपों तथा पाठभेदों का प्राचुर्य	१५४–१५७
	गणपाठ की दुरवस्था का कारण	१५७–१५८
	गणपाठ के संशोधन में पाणिनि कात्यायन तथा पतञ्जलि की सहायता	१५८–१६०
	गणपाठ के संशोधन में काशिका का स्थान	१६०–१६१
	प्रक्रिया-कौमुदी मे प्राप्त गणपाठ का उपयोग	१६१–१६२
	गणरत्नावली का उपयोग	१६२
	गणपाठ के विविध हस्तलेख	१६३–१६४
	अपाणिनीय सम्प्रदाय के विभिन्न गणपाठों का उपयोग	१६४
	ओटो बोथलिंक सम्पादित गणपाठ	१६४–१६५
	गणपाठ के संशोधन का सम्भव प्रकार	१६५–१६८
	उद्धृत प्राक्पाणिनीय गण	१६९–१७१
	उद्धृत पाणिनीय गण	१७२–१७८
	उद्धृत कात्यायनीय गण	१७६–१८०
	उद्धृत प्रत्यक् पाणिनीय गण	१८१–१८३
	पाणिनीय गण जिनका नाम अर्वाचीन वैयाकरणों ने बदल दिया	१८४–१८८
	प्रमुख सहायक तथा उद्धृत पुस्तकें, पत्रिकाएं तथा हस्तलेख	१८६–१९२
	संशोधन पत्र	१९३–१९४

ओम्

संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा

और

आचार्य पाणिनि

प्रथम अध्याय

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र तथा गणशैली

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का प्रयोजन

कोई भी भाषा जब अपनी लोक-प्रियता एवं सुसम्पन्नता को प्राप्त हो जाती है, तब उस भाषा के मर्मज्ञ विद्वान् उस भाषा की सुव्यवस्था, तद्गत-शब्दावली को अपभ्रंश से बचाने, एवं उत्तरकाल मे उस भाषा के यथार्थ-स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए उस भाषा के व्याकरण की रचना करते हैं। संस्कृत वैयाकरणों की शब्दावली में इस प्रयोजन को संक्षेप मे **शब्दानुशासन** कहा जाता है। कैयट सदृश उद्भट विद्वानों ने इसे व्याकरण का साक्षात् प्रयोजन कहा है।[1] कात्यायन और पतञ्जलि द्वारा उपस्थापित व्याकरणाध्ययन के १८ प्रयोजन[2] इसी साक्षात् प्रयोजन (=शब्दानुशासन) के व्याख्यान मात्र हैं। व्युत्पत्ति की दृष्टि से **व्याकरण** तथा **शब्दानुशासन** दोनों ही शब्द पर्याय माने जा सकते हैं।[3] इसीलिए संस्कृत व्याकरण-शास्त्र मे शब्दों के साधुत्व-प्रतिपादन के लिए प्रकृति-प्रत्यय-विभाग की कल्पना की गई। इसी दृष्टि

---

१. भाष्यकारो विवरणकारत्वाद् व्याकरणशास्त्रस्य साक्षात् प्रयोजनमाह—अथ शब्दानुशासनमिति । महा० नवा० पृष्ठ ६। [अनेक प्राचीन ग्रन्थकारों के मत में 'अथ शब्दानुशासनम्' पाणिनि का आद्य सूत्र है। द्र० सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १४३-१४५ (प्र० सं०)]

२. द्र० महा० नवा० पृष्ठ १८–४६ ।

३. अनुशिष्यन्ते शब्दा अनेनेति शब्दानुशासनम्। व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम् ।

से वेदविदामलंकारभूत प्रमाणितशब्दशास्त्र[1] आचार्य भर्तृहरि ने व्याकरण शास्त्र का संस्कृत भाषा के स्वरूपज्ञान के लिए उपाय अथवा साधन मात्र के रूप मे सार्थक माना है।[2]

इस प्रकार स्वसंबद्ध भाषा के स्वरूपज्ञापन को ही व्याकरणों का आदिम तथा अन्तिम प्रयोजन स्वीकार कर लेने पर यह आवश्यक हो जाता है कि जिस भाषा का व्याकरण बने, उसमे उस भाषा के सम्पूर्ण क्षेत्र को सर्वतोभावेन व्याप्त करने की पूरी क्षमता विद्यमान हो। दूसरे शब्दों में व्याकरण द्वारा निर्धारित नियमों से तत्संबद्ध भाषा के सभी शब्दों की ठीक ठीक व्याख्या एवं साधुता का ज्ञान हो सके, तभी उस व्याकरण की चरितार्थता स्वीकार की जासकती है, अन्यथा नहीं।

संसार की अन्य भाषाओं के व्याकरण मे व्याकरणशास्त्र के इस मौलिक उद्देश्य की पूर्ति का कहां तक ध्यान रखा गया है, यह तो उन-उन भाषाओं के व्याकरण-शास्त्री ही जानें, पर जहां तक संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का संबन्ध है, यह अत्यन्त गौरव के साथ कहा जा सकता है कि वह इस उद्देश्य की पूर्ति मे पर्याप्त सफल है। प्रो० मैक्समूलर ने उपर्युक्त तथ्य को निम्न शब्दों मे स्वीकार किया है—

सम्पूर्ण विश्व के इतिहास में केवल भारत और ग्रीक दो ही ऐसे राष्ट्र हैं, जिन्होंने बिना किसी की सहायता तथा सम्मति के स्वतन्त्ररूप में क्रमशः दो विज्ञानों व्याकरण तथा तर्क[3] का अद्भुत आविष्कार किया।[4]

प्रो० मैकडानल ने अधिक स्पष्टता एवं विस्तार के साथ संस्कृत व्याकरण-शास्त्र की विशेषता को जिन शब्दों मे अभिव्यक्त किया है, उनका आशय इस प्रकार है।

१. भर्तृहरि के लिए ये विशेषण गणरत्नमहोदधिकार ने प्रयुक्त किए हैं। द्र० पृष्ठ १२३।

२. उपायः शिक्षमाणानां बालानां व्युत्पादनम्।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥ वाक्यपदीय २।२४०॥

३. भारतीय इतिहास के अनुसार ग्रीक में तर्क शास्त्र के प्रादुर्भाव से सहस्रों वर्ष पूर्व भारत में तर्कशास्त्र पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हो चुका था। सम्पा०।

४. हिस्ट्री ऑफ एन्शिएण्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ८१।

शब्दरूपों के विश्लेषण में, धातु और प्रत्यय के बीच के भेद को पहचानने में, प्रत्ययों के विभिन्न कार्यों के विनिश्चय में, एक वाक्य में, अन्य देशों के लिये अनुपम तथा अद्वितीय हो, ऐसे व्याकरण के विकास में संस्कृत वैयाकरण सर्वप्रथम थे।[1]

संस्कृत व्याकरण में सूत्र-शैली

उपर्युक्त प्रयोजन को आदर्श मानने वाले व्याकरण-मनीषियों के मस्तिष्क मे संस्कृत भाषा के व्याकरण-शास्त्र की रचना करने मे पूर्व इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही था कि सतत-परिवर्तमान-स्वरूप वाले विशाल संस्कृत वाङ्मय को, जिसकी सीमा का निर्देश पतञ्जलि ने **सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्याः**[2] इत्यादि शब्दों द्वारा किया है, व्याकरण के नियमों मे कैसे बांधा जाए।

प्रतिपदपाठ–आरम्भ में कतिपय विद्वानों के ध्यान में शब्दों के **गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती** इस रूप में प्रतिपदपाठरूपी उपाय की कल्पना आयी थी। इसके आधार पर **शब्दपारायण**[3] नाम के कतिपय व्याकरणों की रचना भी हुई थी। इसका संकेत पतञ्जलि के **एवं हि श्रूयते–बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम**[4] कथन के मूल में सन्निहित है। इस स्थिति की सामान्य सत्ता वैदिक व्याकरणों अर्थात् प्रातिशाख्यों में आज भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। परन्तु शब्दों के प्रतिपदपाठ की कभी भी समाप्त न हो सकने वाली एक ऐसी प्रक्रिया थी, जिसे शब्दानुशासन का उचित प्रकार किसी भी रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता था। इस बात की स्पष्ट घोषणा पतञ्जलि ने इन शब्दों मे की है––

अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः ······ बृहस्पतिश्च प्रवक्ता इन्द्रश्चाध्येता दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालो न चान्तं जगाम।[5]

१. इण्डियाज पास्ट, पृष्ठ १३६। २. महा० नवा० पृष्ठ ६४।

३. शब्दपारायणं रूढिशब्दोऽयं कस्यचिद् ग्रन्थस्य। महा० भर्तृहरिटीका, पृष्ठ २१। तु०–नामधातुपारायणादिषु। काशिका, आद्य श्लोक।

४. महा० नवा० पृष्ठ ५०।

५. महा० नवा० पृष्ठ ५०।

अर्थात्–यह प्रतिपद-पाठ शब्दों के परिज्ञान में उपाय (साधन) नही हो सकता।.........बृहस्पति सदृश प्रवक्ता, इन्द्र जैसा अध्येता और दिव्य वर्षसहस्र अध्ययन का काल, फिर भी शब्दों का अन्त नहीं पाया।

सामान्य-विशेष लक्षण–संस्कृत व्याकरण के स्वरूप के निखार के साथ-साथ शाब्दिक महर्षियों की अद्भुत मनीषा ने उपर्युक्त समस्या का उचित समाधान **सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्**[1] के रूप मे प्राप्त कर लिया। इसका अभिप्राय कुछ सामान्य तथा विशिष्ट नियमों का निर्धारण अथवा वैयाकरणों की पारिभाषिक शब्दावली मे **उत्सर्ग** और **अपवाद** रूप नियमों का अवतारण है।[2]

लक्षणों की लघुता–ये सामान्य तथा विशेष नियम ही सूत्रकारों की तेजस्विनी प्रतिभा का संस्पर्श पाकर लघु, लघुतर और लघुतम होते हुए सूत्र का रूप धारण करके

लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः॥

अथवा—

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥[3]

जैसी उक्तियों को चरितार्थ करने लगे। इन्ही सूत्रों के उदाहरण, प्रत्युदाहरण, वाक्याध्याहार आदि से युक्त व्याख्यानों[4] द्वारा विशाल संस्कृत वाङ्मय के सम्पूर्ण प्राङ्गण को प्रकाशित करने की अनुपम क्षमता संस्कृत व्याकरण-शास्त्र को प्राप्त होसकी।

सूत्रशैली का स्वरूप

सूत्र शब्द का मौलिक अर्थ है सूत (धागा)। परन्तु उत्तर काल में इस शब्द का प्रयोग उस विशिष्ट प्रकार के साहित्य के लिए भी किया जाने लगा, जिस मे छोटे-छोटे अर्थपूर्ण वाक्यों द्वारा विस्तृत अर्थों को उपस्थापित

---

१. महा० नवा० पृष्ठ ५२। २. द्र० महा० नवा० पृष्ठ ५२।

३. वायुपुराण ५९।१४२॥

४ उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत् समुदितं व्याख्यानं भवति। महा० नवा० पृष्ठ ६६।

करने का प्रयत्न किया गया। इस प्रकार के साहित्य में जिस तरह के छोटे-छोटे वाक्यों अथवा सूत्रों का प्रयोग हो रहा था, उन्हें यथेष्ट लघुता तथा व्यापकता प्रदान करने के लिए आचार्यों ने सूत्रों को **संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश,** तथा **अधिकार** इन छः प्रकारों मे विभक्त किया,[1] तथा प्रत्याहारों और अनुबन्धों का आविष्कार किया। लाघव की दृष्टि से सूत्रों मे सामान्यतया इतनी छोटी-छोटी संज्ञाओं को स्थान दिया, जिनसे छोटी कोई संज्ञा ढूंढने पर भी न मिले।[2] ये छोटे छोटे संज्ञासूत्र तथा परिभाषासूत्र **यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्**[3] तथा **कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्**[4] जैसी मान्यताओं के आधार पर व्याकरण-शास्त्र के किसी एक कोने मे स्थित होकर अथवा कार्य की आवश्यकतानुसार यथास्थान उपस्थित होकर पूरे शास्त्र को प्रकाशित करते हैं। इसी प्रकार अधिकार सूत्रों की व्यापकता को ध्यान मे रखकर उनको भी तीन विभागों मे विभक्त किया।[5] इन में प्रथम प्रकार के अधिकार सूत्र वे हैं जो एक स्थान पर स्थिर होकर भी सम्पूर्ण शास्त्र को उद्भासित करते हैं, जैसे गृह के प्रकोष्ठ (कमरे) के एक कोने मे स्थित दीपक पूरे प्रकोष्ठ को प्रकाशित करता है।[6] दूसरे प्रकार के अधिकार सूत्र वे हैं जिन्हें **चकार** के द्वारा रस्सी या लोहे (के तार) से बांध कर खींची गई लकडी के समान खीच कर अभिलपित सूत्रों मे उपस्थापित किया जाता है।[7] तीसरे प्रकार के अधिकार सूत्र वे हैं जो, प्रतिसूत्र में उनका निर्देश न करना पड़े, इसलिए स्वयं प्रत्येक सूत्र मे उपस्थित हो जाते हैं।[8] इसी प्रकार अत्यन्त

---

१. द्र० संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च। अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम् ॥

२. द्र० संज्ञा च नाम यतो न लघीयः। महा० नवा० पृष्ठ ३००, ३४०।

३. परि० संख्या २, पृष्ठ ३०। ४. परि० संख्या ३, पृष्ठ ३०।

५. अधिकारो नाम त्रिप्रकारः। महा० नवा० पृष्ठ ३७३।

६. कश्चिदेकदेशस्थः सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति, यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितः सर्वं वेश्माभिज्वलयति। महा० नवा० पृष्ठ ३७३।

७. अपरोऽधिकारो यथा रज्ज्वाऽयसा वा बद्धं काष्ठमनुकृष्यते तद्वदनुकृष्यते चकारेण। महा० नवा० पृष्ठ ३७३।

८. अपरोऽधिकारः प्रतियोगं तस्यानिर्देशार्थ इति योगे योग उपतिष्ठते। महा० नवा० पृष्ठ ३७३।

अप्राप्ति की अवस्था में विधान करना,[1] विधि के सर्वथा प्राप्त होने पर विशेष स्थिति में नियमन करना,[2] तथा अन्य-धर्म का अन्यत्र आरोपण करना[3] क्रमश: विधि, नियम तथा अतिदेश सूत्रों का कार्य माना गया है। सूत्रों के इन विभिन्न प्रकारों में सूत्र-शैली को न्यूनाधिक रूप में लघुता और व्यापकता प्रदान करने का सामर्थ्य विद्यमान है।

इसी परम-आश्चर्यजनक लाघव के कारण **व्याकरणमित्यस्य क: पदार्थ: ? सूत्रम्,**[4] **यो ह्युत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत**[5] जैसी बलवती ध्वनियां संस्कृत व्याकरण-शास्त्र मे श्रवणगोचर होने लगीं और पतञ्जलि मुनि के प्रामाणिक शब्दों में व्याकरण-शास्त्र की आत्मा ने यह गम्भीर घोषणा की—

लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम्।.........न चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दा: शक्या विज्ञातुम्।[6]

वस्तुत: सूत्र-शैली के मूल मे सन्निहित, आचार्यों की **सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्**[7] धारणा की चरितार्थता भी तो इसी बात मे थी कि **येन अल्पेन यत्नेन महतोमहत: शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्**[8] अत्यल्प प्रयास मे बड़े मे बड़े शब्दसागर को हृदयङ्गम किया जा सके। यह सत्य है कि यदि संस्कृत व्याकरण-शास्त्र ने सामान्य विशेष नियमों वाले लघुतम, परन्तु अत्यन्त व्यापक प्रभाव वाले सूत्रों के इस झीने परदे को न अपनाया होता तो अतिविशाल संस्कृत वाङ्मय के अनन्त शब्दों को अपने नियमों द्वारा व्याप्त कर लेना किसी भी वैयाकरण के लिए कभी भी सम्भव नहीं था। आचार्य शबरस्वामी ने अपने मीमांसाभाष्य मे किसी प्राचीन आचार्य का एक श्लोक उद्धृत करके इस तथ्य को स्पष्टत: स्वीकार एवं परिपुष्ट किया है।[9]

१-२. विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति। तन्त्रवार्तिक १।२।३४॥

३. अतिदेशो नाम इतरधर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगायादेशः। आप्टे कोश।

४. महा० नवा० पृष्ठ ६६।

५. महा० नवा० पृष्ठ ७२।

६. महा० नवा० पृष्ठ २४।

७. महा० नवा० पृष्ठ ५२।

८. महा० नवा० पृष्ठ ५२।

९. ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः। लक्षणेन तु सिद्धानाम् अन्तं यान्ति विपश्चितः ॥२।१।३२॥ यही श्लोक निरुक्त-वृत्तिकार दुर्ग ने पृष्ठ १२ (आनन्दाश्रम) पर उद्धृत किया है। वहां प्रथम चरण का पाठ 'ऋषयोऽप्युपदेशस्य' है।

सूत्र-शैली की परम्परा

अति प्राचीन काल मे जब अध्ययन-अध्यापन दोनों ही मौखिक हुआ करते थे, उस समय प्रत्येक पाठ्य ग्रन्थ का पूर्णतया कण्ठाग्र होना अध्यापक और अध्येता दोनों के लिए सर्वथा आवश्यक था। इसलिए स्मरण करने की प्रक्रिया को सरल और अल्प परिश्रम साध्य बनाने के लिए ही सम्भवतः सूत्र-शैली का आविष्कार हुआ। अनेक विद्वानों का विचार है कि ब्राह्मण ग्रन्थों मे सूत्र शैलौ की प्रारम्भिक रूपरेखा उपलब्ध की जा सकती है।[1] साथ ही कर्मकाण्ड की विस्तृत, जटिल एवं नाना भेद-प्रभेदों वाली प्रक्रिया को अच्छे प्रकार स्मरण करके उसके ठीक-ठीक परिपालन की अनिवार्यता (अन्यथा प्रत्यवायभाक् होने का डर था) को देखते हुए कल्पग्रन्थों मे प्राचीनतम सूत्रों की उपलब्धि स्वाभाविक ही है। उत्तर काल मे इसी शैली मे शिक्षा, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, दर्शन, आयुर्वेद आदि विभिन्न विषयों के शतशः ग्रन्थों की रचना हुई। यह दूसरी बात है कि आज वे सारे ग्रन्थ अपने वास्तविक रूप में हमारे समक्ष विद्यमान नही हैं। हां, जहां तक संस्कृत व्याकरण-शास्त्र के साथ सूत्र-शैली का संबन्ध है, यह कहा जा सकता है कि अन्य सभी क्षेत्रों की अपेक्षा इस क्षेत्र मे सूत्रशैली का स्वरूप उत्तरोत्तर अधिकाधिक मंजता गया। यही कारण है कि संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में ही सूत्र-शैली पूर्णतः प्रतिष्ठित हो सकी।

यह दूसरी बात है कि अति प्राचीन इन्द्र चारायण प्रभृति वैयाकरणों के भी कुछ सूत्र अन्वेषकों ने ढूंढ लिए हैं,[2] परन्तु अधिक संभावना इसी बात की है कि वैयाकरण काशकृत्स्न से पूर्व सूत्रों की रचना प्रायः छन्दोबद्ध होती रही।[3] इस प्राचीन संस्कार का प्रभाव पाणिनि के भी कुछ सूत्रों पर देखा जा सकता है।[4] इन छन्दोबद्ध सूत्रों में जैसा कि स्वाभाविक ही था, लाघव को वह प्रधानता नहीं दी जा सकती थी, जो बाद की सूत्र-शैली का एक महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य बन गया।

---

१. हिस्ट्री ऑफ एन्शियेण्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १०६।

२. द्र० संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, भाग१, पृष्ठ६२-७८ (प्र० सं०)।

३ द्र० संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, भाग१, पृष्ठ८३, टि०३ (प्र० सं०)

४. द्र० वृद्धिरादैजदेङ् गुणः। पा० १।१।१-२॥ पश्चिमत्स्यमृगान् हन्ति परिपन्थं च तिष्ठति पा० ४।४।३५,३६॥

श्री पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक के मतानुसार आचार्य काशकृत्स्न के समय अपनी प्राचीन छन्दोबद्धता की अनावश्यक चार दिवारी से सूत्र-शैली मुक्त हुई[1] और सर्व प्रथम काशकृत्स्न ने[2] तथा उनके उत्तरवर्ती वैयाकरणों की परम्परा ने इस स्वरूप को यथासंभव संवारने का प्रयास किया। इस प्रयास से इसमें उत्तरोत्तर अपूर्व लघुता एवं व्यापकता आती गई। सूत्र-शैली के इतिहास मे एक समय वह भी आया, जब शब्दलाघव और अर्थगौरव को एक दूसरे से आगे बढ़ाने के लिए विभिन्न सूत्र-शिल्पियों की तेजस्विनी मनीषा की आश्चर्यजनक, पर साथ ही साथ रोचक प्रतियोगिता व्याकरण के इस बीहड़ एवं शुष्क प्रदेश मे दिखाई देने लगी।[3] इस विचित्र प्रतियोगिता को देखते हुए ही '**अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः**'[4] जैसे व्यङ्ग्य बाण भी वैयाकरणों पर फेंके गये। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि सूक्ष्मता एवं व्यापकता का एक साथ महान् प्रगतिशील, पर उतनी सुनियन्त्रित यह दौड़ संस्कृत-व्याकरण-शास्त्र की एक ऐसी विशेषता है, जो विश्व के किसी भी व्याकरण को अप्राप्त है। निस्सन्देह वैयाकरणों की इस जागरूक प्रतियोगिता में सर्वश्रेष्ठता का सेहरा उस महान् शब्द-मनीषी आचार्य-पाणिनि के सिर बांधा जायगा, जिसकी अद्भुत कृति अष्टाध्यायी के एक-एक अक्षर की सार्थकता का प्रतिपादन कात्यायन तथा पतञ्जलि ने महाभाष्य के अनेक स्थानों पर ताल ठोंक कर किया है।[5] भले ही पाणिनि के उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने एकमात्र लाघव को ही प्रधानता देते हुए, पाणिनि के कुछ सूत्रों के स्थान पर उनसे भी छोटे सूत्रों को उपस्थित किया हो, अथवा पाणिनि द्वारा स्वीकृत कुछ बड़ी बड़ी अन्वर्थ संज्ञाओं के स्थान पर अनेक छोटी छोटी संज्ञाओं का आविष्कार किया हो। परन्तु हमे यह भूलना नहीं चाहिये कि

१. सं० व्या०-शास्त्र का इतिहास पृष्ठ ८२, टि० ३ (प्र० सं०)॥

२. तुलना कीजिए—काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्। काशिका ३।४ ११५। सरस्वती-कण्ठाभरण, हृदयहारिणी टीका ४।३।२४६॥ शाकटायन लघुवृत्ति ३।१।१८२॥

३. तुलना कीजिए—कृन्मकारसन्ध्यक्षरान्तः, गणसूत्र १।१।३७; तथा कृन्मेजन्तः, पा० १।१।३९॥

४. परि० संख्या १३३।

५. सामर्थ्ययोगान्नहि किंचिदत्र, पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्॥ महा० ६।१।७७, पृष्ठ ६०५॥ तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम्। महा० नवा०, पृष्ठ १३३।

वैयाकरणों की सुदीर्घ परम्परा मे आचार्य पाणिनि ही एक ऐसा वैयाकरण हुआ, जिसका व्याकरण लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के अनन्त शब्दों की परम्परा को स्वरसहित यथासम्भव प्रशस्त रूप में समेट पाने में सर्वथा समर्थ होता हुआ व्याकरण के सभी अंगों से अपने को सम्पन्न बना कर अपनी उद्देश्य-प्राप्ति में भव्य सफलता प्राप्त कर सका। जब कि पाणिनि से प्राचीन अथवा अर्वाचीन सभी वैयाकरण केवल वैदिक अथवा केवल लौकिक शब्दों के अन्वाख्यान को ही अपने अपने व्याकरण का विषय बना सके।[1] साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जहां कहीं भी पाणिनि ने बड़े बड़े सूत्रों अथवा संज्ञाओं को अपनी अष्टाध्यायी में स्थान दिया है, वहां सर्वत्र कोई न कोई विशेष अभिप्राय निहित है। हां, कुछ स्थानों पर प्राचीन परम्परा का भी स्वाभाविक प्रभाव उपलब्ध होता है। पाणिनीय व्याकरण की उपर्युक्त विशेषता को लक्ष्य में रख कर ही पतञ्जलि ने **लौकिकानां वैदिकानां च**[2] अथवा **सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्**[3] जैसे वाक्य कहे। अपनी 'हिस्ट्री आफ बुद्धिज्म' नामक पुस्तक मे तिब्बत के प्रसिद्ध ऐतिहासिक तारानाथ ने पाणिनीय व्याकरण के विषय मे जो प्रशस्ति प्रस्तुत की है, वह सर्वथा उद्धर्तव्य है। उसके इंगलिश अनुवाद का संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार है—

पाणिनीय व्याकरण सम्पूर्ण व्याकरणों का मूल है। पाणिनि से पूर्व लिखित रूप में शब्दरचना के पूर्व कोई व्याकरणशास्त्र नहीं था और नाही किसी ऐसे सम्प्रदाय का अस्तित्व ही था, जो इस विषय को किसी सुनिश्चित प्रक्रिया से सुसंबद्ध कर सका हो।[4] व्यक्तिगत रूप से कुछ ऐसे वैयाकरण अवश्य थे, जिन्होंने भाषा के किसी विशिष्ट स्वरूप को लेकर कुछ विशेष विचार किया था। ऐसे लोगों को महान् विद्वान् माना जाता था। यद्यपि तिब्बत में यह कहा जाता है कि कि इन्द्रव्याकरण पाणिनीय व्याकरण से प्राचीनतर है[5] तथा भारत जैसे विशाल देश में सम्भवतः इन्द्र-व्याकरण पहले प्रचलित हुआ हो, तो भी पाणिनीय व्याकरण को ही प्राचीनतम मानना होगा। पण्डितों

---

१. सम्पादकीय मत इस से भिन्न है। उसे परिशिष्ट में देखिए। सम्पा०।

२. महा० नवा० पृष्ठ १०। ३. महा० ६।३।१४॥

४. इस लेख के विषय में सम्पादकीय मत परिशिष्ट में देखें।

५. यह तिब्बतीय अनुश्रुति भारतीय ऐतिह्य की पुष्टि करती है। सम्पा०।

का यद्यपि यह भी निश्चय है कि चान्द्र व्याकरण पाणिनीय व्याकरण **के अनुकूल है तथा कलाप व्याकरण इन्द्रव्याकरण का अनुगमन करता है, तो भी यह सर्वत्र स्वीकार किया जा चुका है कि आचार्य पाणिनि का व्याकरण अपने सूत्रों की व्यापकता तथा विचारों की साम्प्रदायिक परिपूर्णता के कारण सर्वथा अनुपम है।**

सूत्रशैली में गणपाठ और धातुपाठ का स्थान

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र के लिए अत्यावश्यक एवं उपयोगी संक्षेप शैली ने जहां एक ओर सूत्र-शैली, तत्संबद्ध प्रत्याहारों, अनुवृत्तियों तथा अनुबन्धों को जन्म दिया, वहां दूसरी ओर सूत्रों की परिपूर्णता के लिए गणपाठ और धातुपाठ को सूत्रों से पृथक् परिशिष्ट रूप में उपस्थापित करने की आवश्यकता का उद्‌बोधन कराया, क्योंकि शब्दों के साधुत्व की दृष्टि से वैयाकरणों के लिए यह अनिवार्य हो गया कि वे यथासम्भव सम्पूर्ण प्रकृतियों तथा समस्त प्रत्ययों का परिगणन करावें। इन में प्रत्ययों का प्रदर्शन तो अपेक्षाकृत अत्यल्प होने के कारण सामान्य तथा विशेष नियमों वाले सूत्रों की सहायता से सूत्रपाठ में ही सम्पन्न होगया, परन्तु प्रकृतियों के परिगणन में कठिनाई उपस्थित हुई। सूत्रपाठ में ही सम्पूर्ण प्रकृतियों को देने पर सूत्रों का कलेवर अमर्यादित रूप में विस्तृत हो जाता है। अतः प्रकृतियों का निर्देश सूत्रपाठ में किसी प्रकार संभव नहीं हो सकता।

इस समस्या के समाधान के लिए सूत्रों से पृथक् धातु तथा प्रातिपदिक दोनों प्रकार की प्रकृतियों के कुछ विशिष्ट गणों का निर्धारण करना सूत्रकारों के लिए अनिवार्य होगया। इस प्रसंग में पाणिनि के **भूवादयो धातवः**[1] सूत्र में प्रयुक्त **आदि** पद के विषय में पतञ्जलि द्वारा उपस्थापित रोचक विवाद एवं उसके निष्कर्ष[2] की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है।

नामों अर्थात् प्रातिपदिकों तथा क्रियाओं के रूपों की पारस्परिक समानता और भिन्नता की दृष्टि से इन द्विविध प्रकृतियों को अनेक गणों में विभक्त

१. पा० १।३।१॥ २. अथादिग्रहणं किमर्थम्? यदि तावत् पठ्यन्ते, नार्थ आदिग्रहणेन। अन्यत्रापि ह्ययं पठन्नादिग्रहणं न करोति।...... अर्थ न पठ्यन्ते, नतरामर्थ आदिग्रहणेन। न ह्यपठिताः शक्या आदिग्रहणेन विशेषयितुम्। एवं तर्हि सिद्धे सति यदादिग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः—अस्ति च पाठो बाह्यश्च सूत्रात्। महा० १।३।१, पृष्ठ १५४-१५५॥

किया गया। साथ ही इन गणों के आदि मे लाघव की दृष्टि से प्रायः लघुतम प्रकृति को स्थान देकर, उसी प्रारम्भिक प्रकृति को **आदि**[1] अथवा **प्रभृति**[2] शब्दों से युक्त करके अथवा उसका बहुवचनान्त[3] से निर्देश करके सूत्रो मे उपस्थित किया गया। इस प्रकार सूत्रों की लघुता को सर्वथा अक्षुण्ण रखते हुए, उन उन गणों की सम्पूर्ण अभीष्ट प्रकृतियों का संक्षेप से सूत्रों द्वारा निर्देश संभव हो सका। सूत्रों की लघुता की सुरक्षा, भाषा-गत सम्पूर्ण प्रकृतियों का यथासंभव सुव्यवस्थित परिगणन, एवं निर्देशन का इससे अधिक अच्छा उपाय और कोई नहीं हो सकता। इस प्रकार गणपाठ तथा धातुपाठ के निर्धारण की स्थिति संस्कृत व्याकरण-शास्त्र के क्षेत्र मे सुप्रतिष्ठित हुई। इस निर्धारण ने संस्कृत व्याकरण का एक अनिवार्य अङ्ग बन कर, उसके सूत्र-पद्धति के गागर मे प्रकृतियों के अनन्त सागर को भरते हुए उसे कितना वैज्ञानिक एवं संयत बनाया है, यह व्याकरण-शास्त्र के मर्मज्ञों से छिपा हुआ नहीं है। इसी कारण गणपाठ तथा धातुपाठ की इस प्रक्रिया के प्रादुर्भाव को, प्रत्याहारों के आविष्कार की अपेक्षा किसी प्रकार भी अल्प गौरव नही दिया जा सकता।

गणपाठ का अभिप्राय

यद्यपि गणपाठ शब्द का यौगिक अर्थ समूहरूपेण पठन, प्रवचन अथवा उपदेश है। इसलिए किसी भी प्रकार के शब्दों के सामूहिक प्रवचन अथवा निर्धारण को, यौगिक अर्थ के अनुसार गणपाठ कहा जा सकता है, तथापि व्याकरण-शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली मे जिस ग्रन्थ में प्रातिपदिकों अथवा नाम प्रकृतियों के गणों अथवा समूहों का संकलन होता है, उसे गण-पाठ और जिस ग्रन्थ में धातुओं अथवा आख्यात प्रकृतियों के विभिन्न समूहों का पाठ किया जाता है, उसे धातुपाठ कहते हैं।

इस प्रकार गणपाठ शब्द अर्थविशेष में रूढ़ होकर केवल उन प्राति-पदिक प्रकृतियों के अनेक समूहों के उस संकलन के लिए व्यवहृत होता है, जिनका व्याकरण के विभिन्न सूत्रों में प्रयुक्त **आदि** अथवा **प्रभृति** अथवा

---

१. यथा—सर्वादीनि सर्वनामानि। पा० १।१।२७॥

२. यथा—अदिप्रभृतिभ्यः शपः। पा० २।४।७२॥

३. यथा—सप्तमी शौण्डैः। पा० २।१।४०॥

बहुवचनान्त शब्दों की सुव्यवस्थित व्याख्या के लिए सूत्रकारों द्वारा सूत्रपाठ मे पृथक् उपदेश किया गया है।

यद्यपि 'गणपाठ' शब्द का प्रयोग धातुपाठ के लिए भी क्वचित् देखा जाता है (क्योंकि धातुपाठ में भी **भ्वादि अदादि जुहोत्यादि** आदि को एक एक गण मानकर, उन में अभिप्रेत धातु-प्रकृतियों का परिगणन किया गया है) तथापि 'गणपाठ' शब्द का प्रयोग **गोबलीवर्दन्याय** से प्रायः प्रातिपदिक पाठ के लिए ही प्रयुक्त होता है। इसीलिए जहां गणपाठ और धातुपाठ दोनों का एक साथ निर्देश करने का अवसर उपस्थित होता है, वहां यद्यपि केवल गणपाठ शब्द यौगिक अर्थ द्वारा दोनों का निर्देश करने मे समर्थ हो सकता है, तथापि वहां सर्वत्र गणपाठ और धातुपाठ दोनों का नामोच्चारण पूर्वक पृथक् पृथक् निर्देश उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए

धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम् ।
आगमः प्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः ॥'
इत्युक्त्वान्तर्दधे रुद्रः पाणिनिः स्वगृहं ययौ ।
सूत्रपाठं धातुपाठं गणपाठं तथैव च ॥[2]

श्लोकों को उपस्थित किया जासकता है। न्यासकार ने काशिका के **खिलपाठश्च** अंश की **धातुपाठः, चकारात् प्रातिपदिकपाठश्च**[3] व्याख्या करते हुए गणपाठ को प्रातिपदिक पाठ के रूप मे स्वीकार किया है। गणरत्नमहोदधि तथा गणरत्नावली जैसे व्याख्यान ग्रन्थों मे भी केवल प्रातिपदिक पाठ मे आए शब्दों की ही व्याख्या मिलती है। गणपाठ और धातुपाठ के नाम से आज भी दो पुस्तकें पृथक् पृथक् रूप मे उपलब्ध हैं। अतः गणपाठ मे धातुपाठ का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता।

गणशैली का आरम्भ

जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, गणपाठ का सूत्रपाठ के साथ अङ्गाङ्गी सम्बन्ध होने के कारण एक के विना दूसरे की स्थिति सम्भव नहीं। यदि किसी प्रकार सम्भव भी हो सके तो उसका कोई मूल्य नहीं, कोई प्रयो-

---

१. प्रक्रियाकौमुदी, पूर्वार्ध, पृष्ठ १६ ।

२. भविष्य पुराण, प्रतिसर्गपर्व, कलियुगेतिहाससमुच्चय ३१।१३॥

३. न्यास १।३।२, भाग १, पृष्ठ २११ ।

जन नहीं। उदाहरण के लिए यदि पाणिनि के **सर्वादीनि सर्वनामानि**[1] अथवा **कथादिभ्यष्ठक्**[2] जैसे सूत्रों मे आदि शब्द से ग्रहण किए जाने वाले **सर्वादि** अथवा **कथादि** शब्द समूहों का निर्धारक गणपाठ विद्यमान न हो तो पाणिनि तत्तद् **गणसम्बद्ध** सूत्रों में **आदि** अथवा **प्रभृति** जैसे शब्द सर्वथा निष्प्रयोजन हो जाते हैं। इसी प्रकार **सर्वादि** अथवा **कथादि** जैसे शब्दसमूहों गणों का पाणिनि के **सर्वादीनि सर्वनामानि**[1] अथवा **कथादिभ्यष्ठक्**[2] जैसे सूत्रों मे **आदि प्रभृति** आदि शब्दों से निर्देश न किया गया होता तो इस प्रकार के गणों के निर्धारण का क्या प्रयोजन होता? यद्यपि शब्दों के प्रतिपद-पाठ की पद्धति को अपनाने वाले इन्द्र आदि वैयाकरणों तथा वैदिक प्रातिशाख्यकारों ने एक नियम संबद्ध सभी अभिप्रेत शब्दों को तत्तत् सूत्रों मे स्थान देकर गणपाठ की आवश्यकता से मुक्ति पा ली, तथापि इस प्रकार के अमर्यादित एवं दीर्घकाय सूत्रों को आदर्श सूत्र-शैली मे स्थान नही दिया जा सकता। इसलिए किसी भी आचार्य के व्याकरण मे यदि वह वस्तुत. संक्षिप्त सूत्र-शैली मे निबद्ध है तो उसकी सूत्र-शैली की लघुता तथा पूर्णता के लिए यह आवश्यक ही नही, अपितु अनिवार्य है कि सूत्ररचना के पूर्व ही सूत्रकार द्वारा धातुपाठ और गणपाठ का सुव्यवस्थित निर्धारण हो चुका हो।

इस तथ्य को हृदयंगम कर लेने पर यह धारणा स्वभावत. उपस्थित होती है कि जब कभी भी संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र मे संक्षिप्त सूत्र-पद्धति का आदर किया गया होगा, तभी गणपाठ तथा धातुपाठ की वैज्ञानिक कल्पना ने भी वैयाकरणों की मनीषा को सनाथित किया होगा। इसलिए यह कहना कि आचार्य पाणिनि ही गणशैली के प्रथम उद्भावक है, सर्वथा अनुचित है। पाणिनि से प्राचीन अनेक वैयाकरणों के गणपाठ विषयक विभिन्न प्रमाण अगले अध्याय मे उपस्थित किए जाएंगे। यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि जिस प्रकार प्रत्याहारों तथा अनुबन्धों की पद्धति पाणिनि की अपनी ही उपज्ञात अथवा आविष्कृत नहीं है, अपितु पाणिनि से पूर्ववर्ती आपिशलि तथा शान्तनव आदि आचार्यों ने भी क्रमशः **अम्**[3] तथा **अष्**[4] **हय्**[5] आदि

---

१. पा० १।१।२७॥ २. पा० ४।४।१०॥

३. द्र० सं० व्या० शास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ ६६ (प्र० सं०)।

४. लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः। फिट् सूत्र ४२।

५. हयादीनामसंयुक्तलान्तानामन्तः पूर्व वा। फिट् सूत्र ४८।

प्रत्याहारों का प्रयोग किया है, उसी प्रकार गणपाठ की शैली का आविष्कार भी पाणिनि द्वारा ही हुआ, ऐसा कदापि नहीं माना जा सकता। हां, इतना अवश्य है कि इस वैयाकरण-मूर्धन्य ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से विरासत में प्राप्त प्रत्याहार तथा गणपाठ आदि की पद्धतियों का किसी भी प्राचीन आचार्य की अपेक्षा अत्यधिक प्रयोग करके अपने सूत्रों में सुव्यवस्थित लघुता तथा व्यापकता की वह अपूर्व चकाचौंध उत्पन्न कर दी, जिस के समक्ष प्राचीन वैयाकरणों के सभी व्याकरण न केवल फीके ही पड़ गए, अपितु विद्वानों की दृष्टि से उपेक्षित होकर सदा के लिये अपने अस्तित्व तक से हाथ धो बैठे।[1]

---

१. सम्पादकीय मत इस से भिन्न है। उस का निर्देश परिशिष्ट में किया है। सम्पा०।

द्वितीय अध्याय

पाणिनि से प्राचीन वैयाकरण और उनके गणपाठ

संस्कृत वाङ्मय मे इतस्ततः विकीर्ण व्याकरण विषयक सामग्री, यास्क के निरुक्त, वेदों के विभिन्न प्रातिशाख्यों तथा पाणिनीय अष्टाध्यायी में उपलब्ध होने वाले अनेक वैयाकरणों के विविध मतों के आधार पर अन्वेषकों का यह सुनिश्चित विचार है कि आचार्य पाणिनि से पूर्व संस्कृत वैयाकरणों की एक सुदीर्घ परम्परा विद्यमान थी।[1] इस परम्परा मे आने वाले वैयाकरणों के बहुत से सूत्र भी अन्वेषक विद्वानों ने उपलब्ध कर लिए है।[2] कुछ समय पूर्व ही प्रकाशित चन्नवीर कविकृत काशकृत्स्न शब्दकलाप धातुपाठ की कन्नड टीका मे आचार्य काशकृत्स्न के लगभग १३५ सूत्र भी मिल गए है।[3] निस्सन्देह इन १३५ सूत्रों की उपलब्धि से वैयाकरण काशकृत्स्न की सूत्रशैली पर विशद प्रकाश पड़ता है। संस्कृत व्याकरण-शास्त्र मे ऐतिहासिक मनीषा रखने वाले सुप्रतिष्ठित विद्वानों मे सम्भवतः क्षितीशचन्द्र चटर्जी ही एक ऐसे विद्वान् हैं, जो वैयाकरण काशकृत्स्न को पाणिनि का उत्तरवर्ती मानते हैं।[4]

पाणिनि द्वारा स्मृत[5] होने से आपिशलि पाणिनि से पूर्ववर्ती है, यह सर्व सम्मत तथा सुस्पष्ट तथ्य है। पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन के प्रवचन मे आपिशल व्याकरण से पर्याप्त सहायता ली है।[6] इस तथ्य के प्रकाश मे पतञ्जलि का वह लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसमे उन्होंने पाणिनि आपिशलि

---

१. इस परम्परा के २३ वैयाकरणों के परिचय के लिए देखिए सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १, अध्याय ३, ४ (पृष्ठ ५७-१२८)।

२. द्र० सं० व्या० शास्त्र का इतिहास भाग १ अध्याय ३,४ (पृष्ठ ५७-१२८)।

३. इन सूत्रों की विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक द्वारा लिखित 'काशकृत्स्न व्याकरण और उसके उपलब्ध सूत्र' नामक निबन्ध।

४. टेक्निकल टर्म्स एण्ड टेक्नीक्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ २, ७७।

५. वा सुप्यापिशलेः। पा० ६।१।९२।। स एवमापिशलेः पञ्चदशभेदाख्या वर्णधर्मा भवन्ति। पाणिनीय शिक्षा ११९। इस सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा का प्रकाशन शीघ्र ही 'भारतीय प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान' से हो रहा है।

६. द्र० पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ६, ७।

और काशकृत्स्न तीनों के शब्दानुशासनों का एक साथ उल्लेख किया है ।[1] इस लेख में पहले पाणिनीय, तदनन्तर आपिशल और तत्पश्चात् काशकृत्स्न तन्त्र का उल्लेख मिलता है । महाभाष्य के टीकाकार कैयट[2] तथा वाक्यपदीय के टीकाकार हेलाराज[3] के वे वाक्य भी हमारी इस विषय में पर्याप्त सहायता करते हैं, जिनमें आपिशलि से पूर्व काशकृत्स्न की सत्ता का संकेत विद्यमान है । उक्त दोनों विद्वानों ने अपने वचनों में पहले आपिशलि और तदनन्तर काशकृत्स्न के नाम का उल्लेख किया है । उपर्युक्त तीनों स्थलों के समन्वित प्रकाश मे यदि काशकृत्स्न का समय निर्धारित किया जाए तो काशकृत्स्न का समय पाणिनि के पश्चात् तो क्या, आपिशलि के पश्चात् भी नही माना जा सकता ।

ऐन्द्र व्याकरण तथा गणशैली

प्राचीन वैयायाकरणों की परम्परा में, साहित्यिक प्रमाणों[4] तथा तारानाथ जैसे ऐतिहासिकों के कथन[5] के आधार पर आचार्य इन्द्र को प्रथम स्थान दिया जाता है । ए० सी० बर्नेल ने वैदिक प्रातिशाख्यों, यास्क के निरुक्त, कातन्त्र व्याकरण, तोलकापियम्, तथा कच्चायन (कात्यायन) के प्राकृत व्याकरण का संबन्ध, उक्त ग्रन्थों में प्राप्त होने वाली पारिभाषिक शब्दावली आदि की कुछ समानताओं तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी में उपलब्ध होने वाली विषमताओं के आधार पर ऐन्द्र व्याकरण से स्थापित किया है ।[6]

सम्प्रति दुर्भाग्यवश ऐन्द्र व्याकरण अनुपलब्ध है । परन्तु ए० सी० बर्नेल के मतानुसार उसका अनुगमन करने वाले उपर्युक्त विभिन्न व्याकरणों की गतिविधियों के अनुशीलन के पश्चात्, जैसा कि प्रो० ए० सी० बर्नेल का विचार है,[7] हमें यह स्वीकार करना पडता है कि ऐन्द्र व्याकरण में गणशैली

---

१. पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, आपिशलम्, काशकृत्स्नम् । महा० नवा० पृष्ठ ७० ।

२. आपिशलकाशकृत्स्नयोस्त्वग्रन्थे । महा० प्रदीप ५।१।२१ ।।

३. आपिशला: काशकृत्स्नाश्च सूत्रमेतन्नाधीयते । पृष्ठ ७१४ ।

४. द्र० तै० संहिता ६।४।७, तथा 'आन दी ऐन्द्रस्कूल आफ संस्कृत ग्रामेरियन्स, पृष्ठ ५ ।

५. द्र० दी इण्डियन एण्टिकरी, अप्रेल १८७५, पृष्ठ १०२ तथा उससे आगे ।

६. द्र० आन दी ऐन्द्रस्कूल आफ संस्कृत ग्रामेरियन्स, पृष्ठ १२ ।

७. द्र० आन दी ऐन्द्रस्कूल आफ संस्कृत ग्रामेरियन्स, पृष्ठ २६ ।

के प्रयोग का सर्वथा अभाव था। यदि पतञ्जलि के इन्द्र-विषयक शब्दों के प्रतिपद-पाठ-संबन्धी कथन में अर्थवाद के साथ साथ कुछ तथ्यांश भी माना जाए तो उपर्युक्त धारणा की थोड़ी बहुत पुष्टि भी होती है।

वैदिक प्रातिशाख्यों की पाणिनि से प्राचीनता

सम्प्रति उपलब्ध वैदिक प्रातिशाख्य पाणिनि से प्राचीन हैं अथवा अर्वाचीन, इस विषय में बहुत काल से ऐतिहासिक विद्वानों में पर्याप्त मतवैभिन्न्य चला आ रहा है।[१] परन्तु पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा प्रातिशाख्यों में प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्दों की गम्भीर तुलना करके विद्वानों ने[२] ऐसे पर्याप्त संकेत प्रस्तुत किए हैं जो हमे ए. सी. बर्नेल के निष्कर्ष[३] को मानने के लिए बाध्य कर देते हैं कि सम्पूर्ण विद्यमान प्रातिशाख्य अपने वर्तमान रूपों[४] में पाणिनि से अर्वाचीन हैं।[५] परन्तु ये सभी प्रातिशाख्य किसी न किसी प्रकार एक ऐसे व्याकरण-सम्प्रदाय से संबद्ध हैं, जो पाणिनीय सम्प्रदाय से पूर्व प्रतिष्ठित था।[६]

ऋक्-वाजसनेय-तैत्तिरीय प्रातिशाख्यों में गणशैली

ऋक्प्रातिशाख्य के **येत्यादिषु** (४।९१), वाजसनेय प्रातिशाख्य के **उत्तम्भनादीनि** (५।३८) तथा तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के **शैत्यायनादि** (५।४०) **मन्द्रादि** (२३।२) तथा **अक्षरसंहितादि** (२४।४) जैसे सूत्रों के प्रयोगों में 'आदि' शब्द से रहते हुए भी इन से किसी गण का निर्देश अभीष्ट है, ऐसा

---

१. अथर्व प्रातिशाख्य, डा० सूर्यकान्त सम्पादित, भूमिका भाग।

२. अथर्व प्रातिशाख्य, पं० विश्वबन्धु शास्त्री सम्पादित, भूमिका भाग पृष्ठ २३ तथा उससे आगे।

३. द्र० वही, पृष्ठ वही।

४. इस प्रकार के शब्दों से पश्चात्य मतानुयायी संस्कृत वाङ्मय के प्रामाणिक ग्रन्थों के स्वरूपों में अनास्था उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। जब तक इन ग्रन्थों का पूर्व ऐतिहासिक रूप प्रकट न किया जाए, इस प्रकार की कल्पनाएं तथ्य से दूर भटकाने वाली होती हैं।

५. सम्पादकीय मत इससे सर्वथा भिन्न है। सम्पादक के मत में वाजसनेय प्रातिशाख्य तथा लघु ऋक्तन्त्र के अतिरिक्त सभी प्रातिशाख्य और ऋक्तन्त्र पाणिनि से पूर्ववर्ती हैं।

६. अथर्व प्राति० पं० विश्वबन्धु शास्त्री संपा०, भूमिका पृष्ठ २३ तथा आगे।

नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऋक्प्रातिशाख्य के **येत्यादिषु** (४।९१) से अभिप्रेत शब्दों का परिगणन प्रातिशाख्यकार ने स्वयं ही अगले (४।९३) सूत्र में कर दिया है। वाजसनेय प्रातिशाख्य के उत्तम्भनादि निर्देश से **'उत्तम्भन'** के साथ-साथ दो अन्य **उत्थाय** और **उत्थिताय** शब्द ही अभिप्रेत हैं। इनके लिए किसी विशेष गण के निर्धारण का अनुमान कर, उसे गण-शैली के उपयोग करने के प्रमाण में उपस्थित करना, निश्चय ही वाजसनेय प्रातिशाख्यकार द्वारा अपनाई गई शैली के साथ अन्याय करना होगा।[1] इसी प्रकार तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के **शैत्यादि** जैसे आदि शब्द युक्त निर्देशों से जिन शब्दों को अभिप्रेत माना गया है, उनका निर्देश प्रातिशाख्यकार ने स्वयं ही अन्य सूत्रों में कर दिया है।[2] यह भी ध्यान रहे कि **मन्द्रादि** तथा **अक्षरसंहितादि** के निर्देश करने वाले सूत्रों को कतिपय विद्वानों ने प्रक्षिप्त माना है।[2]

इतना ही नहीं, यदि इन प्रातिशाख्यकारों को गणशैली अपनानी होती तो इन प्रातिशाख्यों के सूत्रों का ढांचा ही कुछ और होता। पाणिनि के **प्रादयः** (१।४।५०) जैसे छोटे सूत्रों के स्थान पर पूरे बीस बीस उपसर्गों की गणना सूत्र में न की जाती।[3] इसी प्रकार गणशैली के अपनाने पर वाजसनेय प्रातिशाख्य के **बृहस्पतिर्वनस्पति०**[4] जैसे दीर्घकाय सूत्र के स्थान पर **बृहस्पत्यादीनि,** तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के **नह्यतिनूनंनृत्यन्त्य०**[5] के स्थान पर **नह्यत्यादीनि** जैसे लघुकाय सूत्रों की रचना को ही प्रशस्त माना जाता। स्मरण रहे कि आचार्य पाणिनि के **वनस्पत्यादि** गण (६।२।१४०) तथा **क्षुभ्नादि** गण (८।४।३९) का निर्धारण क्रमशः उपर्युक्त सूत्रों में पठित प्रयोगों को ध्यान में रखते हुए ही किया गया होगा और उसी के

---

१. द्र०—दी क्रिटिकल स्टडीज आन कात्यायनाज शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य, वी. वी. शर्मा, पृष्ठ ८१।

२. द्र०—आन दी ऐन्द्रस्कूल आफ संस्कृत ग्रामेरियन्स, पृष्ठ २३, तथा उससे आगे।

३. द्र०—ऋक्प्रा० १२।२०,२१; वा० प्रा० ४।२४; तै० प्रा० १।१५; अ० प्रा० ११।१७॥

४. वा० प्रा० २।४७॥ ५. तै० प्रा० ७।१६॥

आधार पर **उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्**[1] तथा **क्षुभ्नादिषु च**[2] जैसे लघुकाय सूत्रों की रचना सम्भव हो सकी होगी।

सम्भवतः शब्दों के प्रतिपदपाठ की प्रक्रिया को अपनाने के कारण ही इस प्रकार के दीर्घकाय सूत्रों से तीनों प्रातिशाख्य भरे पड़े हैं। अतः यह निश्चित है कि इन तीनों प्रातिशाख्यों में गणशैली को यत्किंचित् भी प्रश्रय नहीं मिला था।

ऋक्तन्त्र तथा गणशैली

सामवेद से संबन्ध रखने वाले ऋक्तन्त्र में **अविरादि** (सूत्रसंख्या १४१), **कौतस्कुतादि** (१२८), **पटादि** (१६४), **पृषोदरादि** (१६६), **वत्सरादि** (१०६), तथा **शकन्धुकादि** (८७) कई गण मिलते हैं। इन गणों में अभिप्रेत शब्दों का निदर्शन भी ऋक्तन्त्र की विवृत्ति में मिलता है। इस में कोई सन्देह नहीं कि यदि एक ओर उपर्युक्त पृषोदरादि, पटादि, वत्सरादि तथा शकन्धु-कादि गण न केवल इस बात का अनुमान करने के लिए बाध्य करते हैं कि ऋक्तन्त्र का जो रूप हमें मिलता है उसका कुछ भाग पाणिनि की अष्टाध्यायी से तो अर्वाचीन है ही, कात्यायन के वार्तिकों से भी अर्वाचीन है। साथ ही दूसरी ओर इसी ऋक्तन्त्र में वर्तमान **कौतस्कुतादि** (१२८) गण इस बात का बहुत कुछ निश्चय करा देता है कि पाणिनि ने अपने **कस्कादि** गण (८।३।४८) की रूप रेखा का निर्धारण इसी कौतस्कुतादि गण के आधार पर किया था। पाणिनि ने गण निर्धारण करते समय 'कौतस्कुत' शब्द को केवल लाघव की दृष्टि से ही अपने सूत्रपाठ में प्रथम स्थान से हटाकर उसका स्थान 'कस्क' शब्द को देते हुए ऋक्तन्त्र के कौतस्कुतादि को ही कस्कादि गण के रूप में स्वीकार किया है। 'कस्कादि' जैसे छोटे नाम के रहते हुए भी, उसका अनुकरण करने वाला कोई वैयाकरण 'कौतस्कुतादि' जैसे बड़े नाम को अपनी सूत्र-पद्धति में स्थान देना चाहेगा, ऐसा सोचना भी अस्वाभाविक होगा। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि पाणिनि के 'कस्कादि' गण के अनुकरण पर ऋक्तन्त्रकार ने 'कौतस्कुतादि' गण की निर्धारणा की होगी। इस रूप में न्यूनातिन्यून 'कौतस्कुतादि' गण की सत्ता तो हमें पाणिनि के 'कस्कादि' गण से पहले की माननी होगी। इतना ही नहीं, यदि यही माना जाए कि

---

१. पा० ६।२।१४०॥ २. पा० ८।४।३९॥

ऋक्तन्त्रकार ने गणशैली का उपयोग पाणिनि तथा कात्यायन के अनुकरण पर ही किया, तो इस बात का भी उत्तर देना होगा कि ऋक्तन्त्रकार ने पाणिनि के **पारस्करादि** गण (६।१।१५७) का उपयोग न करके **पार पर्वते** जैसे अनेकों सूत्रों (१९४–२११) की रचना क्यों की ? ऋक्तन्त्रकार के इस सुट् प्रकरण वाले (१९४-२११) स्थल से उलटे इस संभावना को बल मिलता है कि पाणिनि के 'पारस्करादि' गण की पृष्ठभूमि ऋक्तन्त्र के सुट्-प्रकरण के सूत्र हैं। इनके अनुकरण पर ही गणशैली को अपनाते हुए भी पाणिनि ने बहुत से ऐसे सूत्रों[1] को अपनी अष्टाध्यायी में स्थान दिया, जिनका प्रयोजन उनका पारस्करादि में अन्तर्भाव करके सिद्ध किया जा सकता था और वह भी विशेषकर उस अवस्था में जब कि 'पारस्करादि' गण को आकृति गण माना जा सकता है।[2]

डाक्टर सूर्यकान्तजी का यह विचार कि ऋक्तन्त्र का सर्वप्रथम प्रणयन औदव्रजि ने किया तथा थोड़े बहुत परिवर्तन और परिवर्धन के साथ शाकटायन ने उसका द्वितीय संस्करण किया। ऋक्तन्त्र का सम्प्रति जो संस्करण उपलब्ध है, वह उसका तीसरा संस्करण है। इस संस्करण की रचना निश्चित ही पाणिनि के पश्चात् हुई है।[3] उस समग्री के विषय में, जो ऋक्तन्त्र तथा अष्टाध्यायी अथवा कात्यायन की वार्तिकों मे सर्वथा समान प से मिलती है, अपनी विस्तृत विवेचना तथा गम्भीर समीक्षा के पश्चात् डाक्टर महोदय ने अन्तिम निष्कर्ष यह निकाला है—

---

१. द्र० पा० ६।१।१४३–१५५।

२. यह बात लक्षणैकचक्षुष्क वैयाकरणों के मतानुसार लिखी है। प्राचीन मतानुसार इस प्रकार की तुलना से कोई विशिष्ट सिद्धान्त स्थिर नहीं किया जा सकता। प्राचीन आचार्य केवल लक्षणैकचक्षु नहीं थे। वे लक्ष्यैकचक्षु थे। लक्ष्यों के सुगमता से परिज्ञान के लिए वे संक्षेप और विस्तार दोनों प्रकार से लक्षणों का प्रवचन करते थे। अतएव महाभाष्यकार ने कहा है—'अथ किमर्थं लुगलुगनुक्रमणं क्रियते, न तत्पुरुषे कृति बहुलम्' ६।३।१४) इत्येव सिद्धम्।'''उदाहरणभूयस्त्वात्। ते वै खल्वपि विधयः सुपरिगृहीता भवन्ति, येषां लक्षणं प्रपञ्चश्च। केवलं लक्षणं, केवलः प्रपञ्चो वा न तथा कारकं भवति।'''''सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्। तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्' (महा० ६।३।१४)। सम्पादक।

३. डा० सूर्यकान्तजी सम्पादित ऋक्तन्त्र, भूमिका भाग, पृष्ठ ३९–४३।

"इन समानताओं के आधार पर अधिक से अधिक यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ऋक्तन्त्र के ये सूत्र सम्भवत: पाणिनि तथा कात्यायन से लिए गए हों, परन्तु पाणिनि तथा कात्यायन ने भी उन्हें शाकटायन तथा अन्यों से ग्रहण किया हो।.........यद्यपि ऋक्तन्त्र कुछ सूत्रों के लिए पाणिनि, यहां तक कि कात्यायन का भी ऋणी हो सकता है, फिर भी ये दोनों (पाणिनि कात्यायन) ही शाकटायन के ऋणी हैं और शाकटायन ऋक्तन्त्र का कर्ता है।"[1]

निश्चय ही विद्वान् लेखक के ये विचार विशेष महत्त्व के हैं। इन के प्रकाश में उपरि निर्दिष्ट दोनों परस्पर विरोधी परिस्थितियों का सम्यक् समन्वय हो जाता है।[2]

इस प्रकार ऋक्तन्त्र के पाठ की कोई सीमा निर्धारित न होने के कारण यह निश्चय पूर्वक कहना तो कठिन है कि उसका कौनसा अंश कितना प्राचीन है और कौनसा अंश कितना अर्वाचीन है, तथापि कौतस्कुतादि गण के विषय में यह संभावना अवश्य उपस्थापित की जा सकती है कि ऋक्तन्त्र का यह अंश पाणिनि से प्राचीन है, इसके रचयिता संभवत: आचार्य शाकटायन रहे हों।

अथर्व-प्रातिशाख्य तथा गणशैली

अथर्व-प्रातिशाख्य मे **बृहस्पत्यादि** (१।१।४), **व्याघ्रादि** (१।१।१९), **अजिरादि** (१।२।७), **पदादि** (१।३।८), **शतादि** (२।४।४) **अश्वादि** (३।३।१५) **सत्रसाहादि** (३।३।१९), **एनाग्रहादि** (२।३।९), **दीर्घायुत्वायादि** (२।४।८), **भूतादि** (२।३।१०), **शाकल्येष्यादि** (२।१।५) के रूप में गणशैली के प्रचुर प्रयोगों को देखकर अथर्व-प्रातिशाख्यकार के पाणिनि से प्रभावित होने की संभावना की जा सकती है, परन्तु कुछ ऐसे हेतु भी उपस्थित किए जा सकते हैं, जिनके आधार पर अथर्व-प्रातिशाख्य को पाणिनि से पहले का ठहराया जा सकता है। यथा—

---

१. डा० सूर्यकान्तजी सम्पादित ऋक्तन्त्र, भूमिका, पृष्ठ ४३।

२. सम्पादकीय मत इससे भिन्न है। ऋक्तन्त्र का उपलब्ध पाठ निश्चय ही पाणिनि से पूर्ववर्ती है। देखिये—सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग, २ 'प्रातिशाख्य आदि के प्रवक्ता और व्याख्याता' अध्याय।

पहला हेतु यह है कि अथर्व-प्रातिशाख्यकार **सार्वधातुक** संज्ञा को सर्वथा सामान्य संज्ञा मानते हुए उसकी कोई परिभाषा नहीं करता, उसे अपरिभाषित ही रहने देता है, परन्तु पाणिनि की अष्टाध्यायी में यह शब्द सामान्य संज्ञा के रूप में न रह कर एक विशिष्ट तथा नियत संज्ञा का रूप धारण कर लेता है। इसलिये पाणिनि ने **तिङ्शित् सार्वधातुकम्** (३।४।११३) सूत्र द्वारा उसकी परिभाषा करते हुए उसे केवल **तिङ्** और **शित्** प्रत्ययों से संबद्ध कर दिया है। 'सार्वधातुक' संज्ञा की जो यह सामान्य तथा विशेष परिस्थिति है, उसमें सामान्य स्थिति को प्राचीन तथा विशेष स्थिति को उत्तरकालीन मानना ही युक्तिसंगत होगा। इस रूप में अथर्व-प्रातिशाख्य वाली स्थिति ही प्राचीनतर सिद्ध होती है। इसलिये यहाँ यह संभावना करना अनुपयुक्त न होगा कि पाणिनि के 'सार्वधातुक' संज्ञा की पृष्ठभूमि सम्भवतः अथर्व-प्रातिशाख्य की सार्वधातुक संज्ञा रही है।[1] इसके विपरीत यदि कोई यही हठ करे कि पाणिनि की सार्वधातुक संज्ञा का अनुकरण अथर्व-प्रातिशाख्यकार ने किया, तो उसे इस बात का भी उत्तर देना होगा कि प्रातिशाख्यकार ने पाणिनि के प्रत्याहारों और अनुबन्धों से अपना परिचय क्यों नहीं दिखाया ?[2]

दूसरा हेतु यह है कि अथर्व-प्रातिशाख्य के स्वरविषयक नियम इतने परिष्कृत नहीं दिखाई देते, जितने पाणिनि के। उदाहरण के लिए अथर्व-प्रातिशाख्य के **द्विरुदात्तं बृहस्पत्यादिनाम्** (१।१।४) सूत्र को, तथा पाणिनि के **उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्** (६।२।१४०) तथा **देवताद्वन्द्वे च** (६।२।१४१) सूत्रों को उपस्थित किया जा सकता है। पाणिनि की सूत्रशैली में **बृहस्पति वनस्पति** जैसे शब्दों को, जिनमें द्विरुदात्तता तथा षष्ठीसमास दोनों हैं, एक विभाग में रखा और **उषासानक्ता मित्रावरुणा** इत्यादि शब्दों को, जिनमें द्वन्द्वसमास की स्थिति है, दूसरे विभाग में रखा। इसलिए दो विभागों के आधार पर पाणिनि ने उपर्युक्त दो सूत्रों की रचना की। परन्तु प्रातिशाख्य की सूत्र पद्धति ने बृहस्पत्यादि गण में ही द्विरुदात्त दिखाई देने वाले सभी

---

१. सम्पादकीय विचार में पाणिनीय 'सार्वधातुक' संज्ञा की पृष्ठभूमि आपिशलि की 'सार्वधातुका' संज्ञा है। द्र० काशिका ७।३।९५ में उद्धृत आपिशल सूत्र।

२. द्र० पं० विश्वबन्धुजी सम्पादित अथर्व-प्रातिशाख्य, भूमिका भाग, पृष्ठ ३३।

शब्दों का समावेश माना है। पाणिनि द्वारा स्वीकृत द्विविध विभागों से उसका कोई परिचय नहीं जान पड़ता। इस रूप में पाणिनि के सूत्रों की अपेक्षा अपनी प्राचीनता का ज्ञापन करती हुई[1] इस बात का भी अनुमान प्रस्तुत करती है कि पाणिनि को अपने वनस्पत्यादि गण की पृष्ठभूमि अथर्व-प्रातिशाख्य के 'बृहस्पत्यादि' गण में मिली हो।

भारद्वाज-शिक्षा तथा गणशैली

भण्डारकर अनुसन्धान संस्थान पूना से एक भारद्वाज शिक्षा प्रकाशित हुई है। उसके अन्तिम श्लोक[2] तथा शिक्षा के व्याख्याकार नागेश्वर भट्ट के मतानुसार[3] यह शिक्षा आचार्य भरद्वाज प्रणीत है। ऋक्तन्त्र के उल्लेख से पता चलता है कि भरद्वाज नाम का एक बहुत प्राचीन वैयाकरण हो चुका है।[4] यह शिक्षा उस प्राचीन भरद्वाज की बनाई हुई है ऐसा पूर्ण विश्वास नहीं होता।[5] यदि यह सिद्ध हो सके कि यह शिक्षा उसी प्राचीन वैयाकरण भरद्वाज आचार्य की है, तो भारद्वाज शिक्षा में मिलने वाले दो गण पाणिनि से पूर्व गणशैली के आविष्कार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। वे गण हैं—**शीभादि**[6] तथा **मेरायादि**[7]।

भागुरि तथा गणशैली

आचार्य भागुरि ने सामसंहिता का प्रवचन किया था। पतञ्जलि संकेतित उन आचार्यों में भागुरि भी एक है, जिन्होंने हलन्त शब्दों से स्त्रीलिङ्ग मे टाप् प्रत्यय का विधान किया था।[8] अतः वैयाकरण भागुरि को पाणिनि से प्राचीन मानने में कोई बाधा नहीं है।

---

१. द्र० अ० प्रा०, विश्वबन्धु सम्पादित भूमिका भाग, पृष्ठ ३३ ३४। इस विषय में सम्पादकीय टिप्पणी परिशिष्ट में देखें।

२. यो जानाति भरद्वजशिक्षामर्थसमन्विताम्। पृष्ठ ६६।

३. प्रवक्ष्यामि इति भरद्वाजमुनिना उक्तम्। पृष्ठ १।

४. द्र०—इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्यः। ऋक्तन्त्र १।४॥

५. द्र० सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ६६ (प्र० सं०)।

६. वैशम्भल्या च शीभादौ पवर्गे च चतुर्थगः। श्लोक ५८।

७. मेरयादौ प्राकृतश्च णः। श्लोक ६३।

८. द्र० सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ६६, ७० (प्र० सं०)।

जगदीश तर्कालंकार ने वैयाकरण भागुरि के व्याकरण विषयक कतिपय नियम अपनी शब्दशक्तिप्रकाशिका में उद्धृत किए हैं। इन नियमों में गणशैली की दृष्टि से निम्न श्लोक विचारणीय हैं[1]—

मुण्डादेस्तत् करोत्यर्थे गृह्णात्यर्थे कृतादितः।
वक्तीत्यर्थे च सत्यादेरङ्गादेस्तन्निरस्यति ॥
तूस्तादुद् विघाते संछादेर्वस्त्रात् पुच्छादितस्तथा।
सेनातश्चाभियाने णिः श्लोकादेरप्युपस्तुतौ ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिनि के **पुच्छभाण्डचीवराण्णिङ्** (३।१।२०) **मुण्डमिश्रश्लक्ष्ण०** (३।१।२१) **सत्यापपाशरूप** (३।१।२५) इन सूत्रों को ही गणशैली का सहारा लेकर उन्हें लघुरूप मे उपस्थित करने का प्रयास किसी अर्वाचीन वैयाकरण द्वारा श्लोकों मे किया गया है।[2] परन्तु यदि ये श्लोक वस्तुतः प्राचीन आचार्य भागुरि के ही हों, तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भागुरि ने पाणिनि की अपेक्षा कहीं अधिक गणशैली का उपयोग किया था।

इन श्लोकों के आधार पर भले ही हम भागुरि के व्याकरण में गणशैली के उपयोग के विषय में निश्चित रूप से कुछ न कह सकें पर भाषावृत्तिकार के साक्ष्य पर इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि भागुरि के व्याकरण में गणशैली अवश्य अपनायी गई थी। भाषावृत्तिकार ने यह सूचना दी है कि भागुरि के **स्वस्रादि** गण में **नप्तृ** शब्द का भी पाठ था।[3]

---

१. सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ७१।

२. सम्पादक के मत में ये श्लोक भागुरि प्रोक्त ही हैं। द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ का परिशिष्ट।

३. नप्तेति भागुरिः। ४।१०॥ [कातन्त्र-परिशिष्ट की गोपीनाथ कृत टीका पृष्ठ ३८६ (गुरुनाथ विद्यापति का संस्क०) में 'नप्तेति भागवृत्तिः, नप्त्रीति भागुरिः' पाठ मिलता है। 'नप्तृ शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् नहीं होता' यह मत भागवृत्तिकार के नाम से शब्दकौस्तुभ (भाग ३, पृष्ठ १०) तथा दुर्घटवृत्ति (पृष्ठ ७४) में भी उद्धृत है। द्र० हमारा भागवृत्ति-संकलन, ४।१।१०॥ हमारे विचार में भाषावृत्ति का पाठ यहां खण्डित है। पाठ कुछ भी हो, दोनों पक्षों में भागुरि के व्याकरण में 'स्वस्रादि' गण था, इतना अंश तो सर्वथा स्पष्ट है। सम्पा०]

काशकृत्स्न तथा गणशैली

डेकेन कालेज पूना से ए. एन. नरसिम्हैया सम्पादित 'काशकृत्स्न शब्द-कलाप धातुपाठ' नाम का एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।[1] इस धातुपाठ पर चन्नवीर कविकृत कन्नड टीका भी है। इस टीका में आचार्य काशकृत्स्न के लगभग १३५ व्याकरण सूत्र उद्धृत हैं।[2] इन से काशकृत्स्न व्याकरण की रूपरेखा का पर्याप्त परिचय प्राप्त हो जाता है। इन्हीं सूत्रों में सौभाग्य से एक ऐसा सूत्र भी है, जिस से संकेत मिलता है कि काशकृत्स्न व्याकरण में गणशैली का उपयोग किया गया था। वह सूत्र है--

क्षिप्नादीनां न नो णः । पृष्ठ २४७।

इस सूत्र के द्वारा क्षिप् आदि धातुओं से निष्पन्न शब्दों में णत्व का निषेध किया गया है। काशकृत्स्न के इस सूत्र की पूरी तुलना पाणिनि के **क्षुभ्नादिषु च** (८।४।३९) सूत्र से की जा सकती है।

आपिशलि तथा उनका गणपाठ

पाणिनि ने अपने से पूर्ववर्ती वैयाकरण आपिशलि का अपने शब्दानुशासन में साक्षात् उल्लेख किया है।[2] श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने व्याकरण शास्त्रीय विशाल वाङ्मय में इतस्ततः विप्रकीर्ण आपिशलि के दस सूत्रों को प्रस्तुत किया है।[3] पतञ्जलि ने आपिशलि के एक नियम को प्रमाणरूप में महाभाष्य मे उद्धृत किया है।[4] पदमञ्जरीकार हरदत्त ने आपिशलि-व्याकरण को पाणि-

१. काशकृत्स्न व्याकरण के सम्बन्ध में विशेष देखें–सं० व्या० शास्त्र का इतिहास भाग २, अ० २०; तथा 'काशकृत्स्न व्याकरण और उसके उपलब्ध सूत्र' नामक निबन्ध।

२. वा सुप्यापिशलेः । पा० ६।१।९२।। [आपिशलि-प्रोक्त शिक्षा का उल्लेख भी पाणिनि ने अपनी सूत्रात्मक शिक्षा के आठवें प्रकरण में किया है—'स एव-मापिशलेः पञ्चदशभेदाख्या वर्णधर्मा भवन्ति' (पूर्णसंख्या ११९)। द्रष्टव्य हमारे द्वारा सम्पादित पाणिनीय शिक्षा। सम्पा०]

३. सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग१, पृष्ठ ९८–९९ (प्र० सं०)।

४. एवं च कृत्वा आपिशलेराचार्यस्य विधिरुपपन्नो भवति–धेनोरनञिकमुत्पादयति। महा० ४।२।४५।।

नीय-व्याकरण की पृष्ठभूमि स्वीकार किया है।[1]

इस प्रकार निश्चित रूप से पाणिनि से प्राचीन एवं सुप्रतिष्ठित वैयाकरण आपिशलि के धातुपाठ की सत्ता को पतञ्जलि[2] और काशिकाकार[2] ने अस्पष्ट रूप में तथा स्कन्दस्वामी[3] और जिनेन्द्रबुद्धि[4] ने नाम-निर्देशपूर्वक स्पष्टरूप मे स्वीकार किया है। इसी प्रकार आपिशलि के सर्वादि गण की ओर भी पतञ्जलि और कैयट ने अस्पष्टरूप से संकेत किया है।[5] आचार्य भर्तृहरि ने आपिशलि का नामोल्लेख पूर्वक इस बात की स्पष्ट सूचना दी है कि आपिशलि के सर्वादिगण मे, पाणिनि के सर्वादिगण की अपेक्षा शब्दों के विन्यास मे कुछ भिन्न क्रम अपनाया गया था।[6] उसमे **त्यद्** आदि शब्दों से पूर्व **किम्** को, और उससे लेकर **अस्मत्** पर्यन्त शब्दों का पाठ करके **पूर्वापराधर** आदि गणसूत्रों अथवा शब्दों को स्थान दिया गया था।

उक्त सूचनाएं इस तथ्य को प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि आचार्य आपिशलि ने अपने व्याकरण की दृष्टि से गणपाठ और धातुपाठ दोनों की निर्धारणा की थी।

१—कथं पुनराचार्येण पाणिनिना अवगतमेते साधव इति ? आपिशलेन पूर्व-व्याकरणेन। प० मं० भाग १, पृष्ठ ६। पाणिनिरपि स्वकाले **शब्दान्** प्रत्यक्षयन् आपिशलादिना पूर्वस्मिन्नपि काले सत्तामनुसन्धत्ते, एवमापिशलिरपि। प० मं० भाग १, पृष्ठ ७।

[पाणिनीय शिक्षासूत्रों की आपिशल शिक्षासूत्रों के साथ तुलना करने से भी यही परिणाम निकलता है कि पाणिनीय शिक्षासूत्रों की पृष्ठभूमि आपिशल शिक्षा-सूत्र ही थे। सम्पा०]

२. अस्ति सकारमात्रमातिष्ठते। महा० १।३।२२॥ काशिका १।३।२२॥

३. उषिजिघर्तीति छान्दसौ धातू व्याकरणस्य शाखान्तरे आपिशलादौ स्मरणात्। निरुक्त-भाष्य, भाग २, पृष्ठ २२।

४. सकारमात्रमस्ति धातुमापिशलिराचार्यः प्रतिजानीते। तथाहि न तस्य पाणिनेरिव अस भुवीति पाठः। न्यास १।३।२२; पृष्ठ २२६।

५. द्र० त्यादादीनीति गणे पठित्वा कैश्चित् पूर्वादीनि पठितानि। महा० नवा० पृष्ठ ३११।

६. इह त्यदादीन्यापिशलैः किमादीनि अस्मत्पर्यन्तानि, ततः पूर्वापराधरेति। उद्धृत सं० व्या० का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १०२ (प्र० सं०)।

उणादिसूत्र तथा गणशैली

उणादि सूत्रों के कर्त्ता तथा उनके समय के विषय में व्याकरण-शास्त्र में ऐतिहासिक-मनीषा रखने वाले विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। नागेश भट्ट का विचार है कि उणादि सूत्र प्राचीन आचार्य शाकटायन द्वारा रचित हैं।[1] प्रो० मैक्समूलर ने इन सूत्रों को पाणिनि से प्राचीन माना है।[2] गोल्डस्टूकर ने यह विचार उपस्थित किया है कि सम्प्रति उपलब्ध उणादि सूत्रों का प्रणयन आचार्य पाणिनि ने शाकटायन-व्याकरण के आधार पर किया था। पर उनमें बाद में कात्यायन ने प्रचुर परिवर्तन, परिवर्धन तथा संशोधन किया। इसी कारण वैयाकरण-परम्परा ने उनकी रचना का श्रेय कात्यायन को देना आरम्भ कर दिया, जिनका दूसरा नाम वररुचि था।[3]

थोडेर आफ्रेक्ट ने उणादि सूत्रों का उज्ज्वलदत्त की वृत्ति के साथ सम्पादन किया है। इस स्वसम्पादित ग्रन्थ की भूमिका मे कुछ रोचक हेतुओं को प्रस्तुत करके यह प्रतिपादन किया है कि "उणादि सूत्रों के कर्त्ता तथा उनके समय का पूरा-पूरा निश्चय भले ही न हो, पर इतना तो सर्वथा निश्चित है कि उणादि सूत्र अपने को पाणिनि से पर्याप्त प्राचीन प्रमाणित करते हैं।"[4] सम्पादक का कहना है कि "उणादि सूत्रों में **कृषेर्वृद्धिश्चोदीचाम्** (१९६) तथा **कृञ उदीचां कारुषु** (५६५) इन दो सूत्रों से यह पता लगता है कि इस ग्रन्थ के रचयिता के समय, उत्तर देशवासियों के द्वारा खेती करने हारों के लिए **कार्षक** तथा शिल्पी के लिए **कारी** शब्द का प्रयोग होता था। उत्तर देशवासियों के शब्द प्रयोग की यह स्थिति निश्चित ही पाणिनि के समय नहीं थी।"[5] इसी तरह "**भूसूधूभ्रस्जिभ्यश्छन्दसि** (२३८) तथा अशि-

---

१. द्र० लघुशब्देन्दुशेखर, पूर्वार्ध ३।३।३१, पृष्ठ ४८६, ४८८, ४६०।

२. ए हिस्टरी आफ एन्शिएण्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ७७।

३. पाणिनि-हिज प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १६७–१७०।

४. द्र० भूमिका भाग, पृष्ठ १२।

५. पाणिनि ने अष्टाध्यायी में कई स्थानों पर उदीच्य और प्राच्य देशवासियों द्वारा प्रयुक्त शब्दों का अनुशासन किया है। यथा—अष्टा० ४।१।१५३, १५७, १६०॥ अतः आफ्रेक्ट का लेख हेतुरहित कल्पनाप्रसूत होने से प्रमाणार्ह नहीं हो सकता सम्पा०।

शकिभ्यां छन्दसि (५८६) सूत्रों से यह स्पष्ट है कि **भुवन** तथा **अश्मन्** शब्द उणादिकार के समय केवल वैदिक शब्द के रूप में प्रयुक्त होते थे। पाणिनि के शब्दानुशासन में इस प्रकार के शब्द लोक में भी प्रयुक्त माने गये हैं।''[1]

उणादि सूत्रों की शैली पर विचार करते हुए आफ्रेक्ट ने यह भी स्पष्ट किया है कि ''उणादि सूत्रकार का यह प्रयोजन कदापि नहीं था कि उणादि-प्रत्ययों से निष्पन्न होने वाले सभी शब्दों की पूर्ण सूची उपस्थित की जाए। केवल कुछ महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक शब्दों का प्रदर्शन-मात्र ही उनका उद्देश्य था। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि ग्रन्थकार ने जिस प्रत्यय का निर्देश पहले कर दिया, उससे निष्पन्न होने वाले अनेक शब्दों में से किसी एक आदर्शभूत शब्द को ही अपने सूत्रों में 'आदि' शब्द से युक्त करके प्रस्तुत करता है। इस प्रकार की सूचियों में किन-किन शब्दों का परिगणन होगा, यह कार्य उन्होंने व्याख्याकारों तथा आगे आने वाले व्याकरणज्ञों की इच्छा के ऊपर छोड़ दिया। यह भी सत्य है कि आगे आने वाले व्याकरणज्ञों तथा व्याख्याकारों ने पर्याप्त सीमा तक इस कार्य को सम्पन्न किया।''[2] इन विचारों को प्रस्तुत करके आफ्रेक्ट ने **अघ्न्यादि अब्दादि अलीकादि** आदि २८ गणों को, इनकी आकृतिगणता के स्वरूप के साथ साथ उणादि सूत्रों के मूल प्रणेता की सूत्र-रचना विषयक नीति से सम्बद्ध किया।

यदि नागेशभट्ट, मैक्समूलर तथा आफ्रेक्ट महोदय के उपर्युक्त विचार, अथवा पं० युधिष्ठिर मीमांसक कि यह धारणा कि उणादि सूत्रों के कर्त्ता आपिशलि हैं,[3] प्रामाणिकता की कोटि में आयके तो उणादि सूत्रों के छोटे से कलेवर में प्रयुक्त २८ गणों को देखते हुए, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अष्टाध्यायी की रचना से पूर्व न केवल गणशैली आविर्भूत हो चुकी थी, अपितु इस शैली का सूत्रकारों ने पर्याप्त उपयोग भी किया था।

फिट्-सूत्र तथा गणशैली

आचार्य शान्तव के नाम से प्रसिद्ध फिट्सूत्रों को पणिनि से प्राचीन मानने के विषय में भी ऐतिहासिक विद्वानों के विभिन्न विचार हैं। प्रो०

---

१. यह भी पूर्ववत् प्रमाणरहित कल्पनामात्र है। सम्पा०।

२. द्र० उणादिसूत्र आफ्रेक्ट सम्पादित भूमिका, पृष्ठ ६।

३. सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १०२ (प्र० सं०)

मैक्समूलर फिट्सूत्रों को पाणिनि से प्राचीन मानते हैं।[1] गोल्डस्टूकर ने भट्टोजी दीक्षित की फिट्सूत्र विषयक व्याख्या के दो एक स्थलों को उपस्थित करते हुए (केवल उन्हीं के आधार पर) फिट्सूत्रों को पाणिनि से अर्वाचीन मानना चाहा है। परन्तु चन्द्रगोमी की चान्द्रवृत्ति के एक स्थल से यह पूर्ण निश्चय हो जाता है कि फिट्सूत्र पाणिनि से प्राचीन हैं। वह स्थल इस प्रकार है—

एष प्रत्याहारः पूर्वव्याकरणेऽपि स्थित एव। अयं तु विशेषः—एओष् इति यदासीत् तद् एओज् इति कृतम्। तथाहि लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः, तृणधान्यानां च द्व्यषाम् इति पठ्यते।[2]

चान्द्रवृत्तिकार ने इन पङ्क्तियों में प्रत्यहार शैली की पाणिनि से प्राचीनता तथा प्राचीन प्रत्याहारों की पाणिनीय प्रत्याहारों से भिन्नता दिखाते हुए उदाहरण के रूप में फिट्सूत्र के दो सूत्र उद्धृत किये हैं। इस उद्धरण से फिट्सूत्रों की पाणिनि की अपेक्षा प्राक्कालिकता के विषय में उत्पन्न होने वाली सभी शङ्काएं समाप्त हो जाती हैं।

इस प्रकार पाणिनि से सुनिश्चित प्राचीन फिट्सूत्र जैसे छोटे संग्रह में **घृतादि** (११), **ग्रामादि** (३८), **कर्दमादि** (५९), **एवादि** (८२) तथा **वाचादि** (८३) जैसे आकृति-गणों की विद्यमानता हमारी पूर्वोक्त 'गणशैली के पाणिनि से पूर्व आविर्भूत होने की' धारणा का पर्याप्त एवं अकाट्यरूपेण पोषक है।

पाणिनि से पौर्वकालिक गणपाठों की सत्ता के अन्य संकेत

अब कुछ ऐसे प्रमाण अथवा वचन उद्धृत किये जाते हैं, जिन से पाणिनि से प्राचीन आचार्यों के गणपाठों के विषय में थोड़ा बहुत आभास मिलता है (अधिक कुछ नहीं)। विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करने के लिए इन संकेतों को उपस्थित करना आवश्यक है।

अष्टाध्यायी से प्राप्त संकेत

पाणिनि के **चूर्णादीन्यप्राणिषष्ठ्याः** (६।२।१३४) सूत्र का पाठान्तर **चूर्णादीन्यप्राण्युपग्रहात्** के रूप में उपलब्ध होता है।[3] इस पाठान्तर में

१. द्र० ए हिस्टरी आफ एन्शियेण्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ७८।
२. चान्द्रवृत्ति, क्षितीशचन्द्र चटर्जी सम्पादित, प्रथम भाग, पृष्ठ ६।
३. द्र० काशिका ६।२।१३४॥

पाणिनि के सूत्र में विद्यमान **षष्ठी** पद के स्थान में **उपग्रह** शब्द का प्रयोग मिलता है। पाणिनीय सम्प्रदाय के वैयाकरण अच्छे प्रकार जानते हैं कि पाणिनि ने कहीं भी **उपग्रह** पद का प्रयोग नहीं किया। इस सम्प्रदाय में यदि कहीं **उपग्रह** पद का प्रयोग मिलता भी है[1] तो वह आत्मनेपद और परस्मैपद का बोध कराने के लिए किया गया है, न कि षष्ठी विभक्ति के लिए। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि **चूर्णादीन्यप्राण्युपग्रहात्** सूत्र किसी प्राचीन आचार्य का है। अर्थ की दृष्टि से सर्वथा समान दिखाई देने के कारण **चूर्णादीन्यप्राण्युपग्रहात्** सूत्र भी उपर्युक्त पाणिनीय सूत्र के पाठान्तर रूप में वृत्तिकारों द्वारा निर्दिष्ट होता चला आ रहा है। इसलिए यह संभावना स्वीकार्य हो सकती है कि पाणिनि के **चूर्णादि** गण का निर्धारण, पाठान्तर के रूप में स्मृत प्राचीन सूत्र के रचयिता आचार्य द्वारा हो चुका था। यह भी ध्यान रहे कि यह सूत्र समास-स्वरविषयक है, इसलिए पाणिनि से पूर्ववर्ती व्याकरणों में भी पाणिनि के समान ही स्वर का विधान था, यह भी स्पष्ट है।

पाणिनीय गणपाठ से प्राप्त संकेत

पाणिनि के यस्कादि गण (२।४।६३) में **पुष्करसत्** शब्द का पाठ मिलता है। यदि विचार किया जाए तो इस शब्द के यस्कादि गण में पढ़ने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यस्कादि गण मे विद्यमान शब्दों से बहुवचन में वर्तमान गोत्रप्रत्यय के लुक् का विधान किया जाता है।[2] यतः **पुष्करसत्** शब्द प्राच्यगोत्र से संबन्ध रखता है, इसलिए इस से अभीष्ट लुग्विधान कार्य पाणिनि के एक अन्य सूत्र **बह्वच इञः प्राच्यभरतेषु** (२।४।६६) से हो जाता है। यस्कादि गण में पठित 'पुष्करसत्' शब्द को, उक्त अनावश्यक पाठ की स्थिति से बचाने के लिए हरदत्त ने अपनी पदमञ्जरी में यह विचार उपस्थित किया है कि सम्भवतः पाणिनि से प्राचीन किसी वैयाकरण ने अपने **गोपवनादि** गण में **तौल्वल्यादयश्च**[3] वाक्य भी पढ़ा था (ध्यान रहे कि पाणिनि के गोपवनादि गण में **तौल्वल्यादयश्च**

१. द्र० 'सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणाम्' । महा० ३।१।८५॥

२. द्र० यस्कादिभ्यो गोत्रे । पा० २।४।६३ ॥

३. यहां अष्टा० २।४।६१ में पठित 'न तौल्वलिभ्यः' सूत्र का पाठ न करके गोपवनादि के अन्तर्गत ही तौल्वल्यादि को पढ़ा था, यह अभिप्राय नहीं है। क्योंकि

पाठ नहीं है)। इस का अभिप्राय यह हुआ कि किसी प्राचीन आचार्य ने **तौल्वल्यादि** गण में विद्यमान शब्दों की प्रकृतियों का भी **गोपवनादि** गण मे अन्तर्भाव माना था। यतः 'तौल्वल्यादि' गण में 'पुष्करसत्' शब्द भी पठित है इसलिए उस प्राचीन आचार्य के गणपाठ की दृष्टि से उसके 'गोपवनादि' गण में 'पुष्करसत्' शब्द भी अन्तर्भूत था। तदनुसार **न गोपवनादिभ्यः** (२।४।६७) सूत्र जो गोपवनादि गण मे पठित शब्दों से **यस्कादिभ्य गोत्रे** (२।४।६३) इत्यादि से प्राप्त होने वाले गोत्रप्रत्ययों की लुक्प्राप्ति का प्रतिषेध करता है, वह 'पुष्करसत्' शब्द के साथ संयुक्त होने वाले गोत्रप्रत्यय के लुक् का भी प्रतिषेध कर देता है। इसलिए **न गोपवनादिभ्यः** (२।४।६७) से प्राप्त लुक्प्रतिषेध को रोकने के लिए अर्थात् पुनः लुक् की प्राप्ति कराने के लिए यस्कादि गण मे 'पुष्करसत्' शब्द का पाठ किया है।[१] दूसरे शब्दों में हमे यह स्वीकार होगा कि आचार्य पाणिनि ने किसी प्राचीन आचार्य के गणपाठ की दृष्टि से अपने यस्कादि गण मे 'पुष्करसत्' शब्द का पाठ किया है। यदि कोई यह कहे कि पाणिनि के अपने गणपाठ की दृष्टि से कोई अव्यवस्था उत्पन्न नहीं हो रही थी, पुनः पाणिनि ने यस्कादि गण में पुष्करसत् शब्द का पाठ क्यों किया? इस का उत्तर यह है कि जिस प्रकार अनेक स्थानों मे महाभाष्यकार **अनर्थकं सञ्ज्ञापयत्याचार्यः** न्याय

'न तौल्वलिभ्यः' (२।४।६१) सूत्र पूर्वसूत्र से प्राप्त युवप्रत्यय के लोप का निषेध करता है, और 'न गोपवनादिभ्यः' (२।४।६७) सूत्र गोत्र में विहित प्रत्यय के बहुवचन में विहित लुग्विधान का प्रतिषेध करता है। दोनों का अपना भिन्न भिन्न कार्य है। इसलिए गोपवनादि गण में पठित 'तौल्वल्यादयश्च' सूत्र का 'न तौल्वलिभ्यः' सूत्र के कार्य से कोई संबन्ध नहीं है। हां, 'न तौल्वलिभ्यः' सूत्र में निर्दिष्ट तौल्वल्यादि गण का इसमें भी समावेश माना है। तदनुसार 'तौल्वलि तौल्वली, तौल्वलयः' आदि में बहुवचन में इञ्प्रत्यय का लोप नहीं होता। सम्पादक।

१. एवं तर्हि गोपवनादिषु केचित् तौल्वल्यादयश्चेति पठन्ति। तौल्वल्यादिषु पठिता प्रकृतिभागा अपि गोपवनादिषु द्रष्टव्या इत्यर्थः। तेन 'न गोपवनादिभ्यः' इति निषेधे प्राप्ते अत्रास्य पाठः। अयमेव च पाठो ज्ञापयति गोपवनादिषु तौल्वल्यादयोऽपि पठिताः। पदमञ्जरी, भाग १ पृष्ठ ४८६।

[यही मत न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि का भी है। द्रष्टव्य न्यास २।४।६३, भाग १, पृष्ठ ४७३। सम्पादक]

के अनुसार किसी पाणिनीय पद की अनर्थकता से अर्थ विशेष का ज्ञापन करते हैं। उसी प्रकार यहां भी यस्कादि गण में 'पुष्करसत्' पद का पाठ अनर्थक होकर ज्ञापन करता है कि गोपवनादि गण में तौल्वल्यादि प्रकृतियों का भी पाठ है (यही ज्ञापन पदमञ्जरीकार हरदत्त और न्यासकार जिनेन्द्र-बुद्धि ने किया है)। इस ज्ञापक से **तौल्वलि** आदि शब्दों के बहुवचन में इञ् का लोप नहीं होता। यदि यह ज्ञापक न माना जाय तो यस्कादि में पुष्कर-सत् शब्द का पाठ तो अनर्थक होगा ही, साथ में तौल्वलि आदि शब्दों के बहुवचन में गोत्रप्रत्यय का लुग् प्राप्त होगा, जो कि इष्ट नहीं है।

पाणिनीय-गणपाठ में **उक्थादि** (४।२।६०) तथा **कथादि** (४।४।१०२) गणों में **वृत्ति, संग्रह, गण, आयुर्वेद** प्रभृति शब्दों का समान पाठ मिलता है। ये सभी शब्द विभिन्न विषयों तथा उनके ग्रन्थविशेषों के वाचक हैं। इन में भी **वृत्ति** और **संग्रह** ये दो शब्द तो संभवतः व्याकरण क्षेत्र के ही ग्रन्थों के वाचक हैं। अतः दोनों गणों में समानरूप से पठित **गण** शब्द भी, जैसा कि भट्ट यज्ञेश्वर का निश्चित विचार है, गणपाठ का ही बोधक है।[1] अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यहां गणकार पाणिनि ने अपने से प्राचीन किसी या किन्हीं गणपाठों को ध्यान में रखकर **गणमधीयानो विदन् वा** अथवा **गणे साधुः** इन अर्थों में प्रयुज्यमान **गाणिकः** शब्द के साधुत्व के लिए **गण** शब्द को उपर्युक्त गणों में प्रस्तुत किया है।

श्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने उक्थादि गण में केवल काशिका के मुद्रित पाठ के अनुकरण पर **गण-गुण** शब्दों के स्थान में **गुणागुण** पाठ माना है।[2] तथा 'गुण' शब्द को **अदेङ्गुणः** (१।१।२) सूत्र से संज्ञित **गुण** और 'अगुण' को **वृद्धि** का बोधक स्वीकार किया है। परन्तु केवल काशिका मुद्रित गणपाठ को छोड़कर अन्य किसी भी पाणिनीय अथवा पाणिनीयेतर मुद्रित गणपाठों में तथा उनके हस्तलेखों में **उक्थादि** गण में **गुणागुण** पाठ नहीं मिलता। सर्वत्र **गुण, गण** इन दो शब्दों का ही पाठ मिलता है। 'कथादि' गण के पाठ की तुलना से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। वहां काशिका में भी **गुण, गण** इन दो शब्दों का ही पाठ मिलता है। यह भी ध्यान रहे कि 'उक्थादि' तथा 'कथादि' दोनों गणों में **वृत्ति, संग्रह,**

---

१. गणो गणपाठः। तमधीयानो विदन् वा गाणिकः। गणरत्नावली, पृष्ठ ६८।
२. इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, पृष्ठ ३४८।

गुण, गण, आयुर्वेद ये पाचों शब्द लगभग एक ही क्रम से पठित हैं। केवल **गुण** तथा **गण** शब्दों के विन्यास मे पौर्वापर्य है। 'उक्थादि' **गण** में **गण** शब्द प्रथम पठित है और **गुण** बाद में, परन्तु 'कथादि' गण में **गुण** प्रथम है **गण** बाद में। इसलिए दोनों गणों में **गुण** तथा **गण** शब्दों का ही पाठ मानना होगा और वह भी पृथक्-पृथक्। ऐसी स्थिति **गुणागुण** पाठ के अनौचित्य स्वीकार करने के लिए हम बाध्य हैं। इतना ही नहीं, डा० अग्रवाल के द्वारा किया गया **अगुण** शब्द का **वृद्धि** अर्थ सम्पूर्ण वैयाकरण वाङ्मय उपलब्ध नहीं होता। इसलिए डा० अग्रवाल द्वारा स्वीकृत तथा व्याख्यात पाठ के साथ हम किसी भी प्रकार सहमत नही हो सकते। ऐसी स्थिति मे **गण** शब्द का पाठ ही स्वीकार्य होता है। उस अवस्था मे **गण** शब्द को पाणिनि से प्राचीन किसी गणपाठ का अथवा गणप्रक्रिया का बोधक मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

इसके अतिरिक्त पाणिनि के **गौरादि** (४।१।४१) गण के अन्त में **पिप्पल्यादयश्च** एक गणसूत्र मिलता है। इस गणसूत्र के द्वारा किसी पिप्पल्यादि गण का निर्देश किया गया है, यह सर्वथा स्पष्ट है। परन्तु पाणिनि ने अपने गणपाठ मे **पिप्पल्यादि** नाम के किसी गण का निर्देश अन्यत्र नहीं किया। हां, इस गणसूत्र के साथ ही **पिप्पली, हरीतकी, कोशातकी, शमी, करीरी, पृथिवी, क्रोष्ट्री**[1] इतने शब्दों का पाठ भी पाणिनीय गणपाठ में उपलब्ध होता है, जो सम्भवतः वृत्तिकारों द्वारा संगृहीत हैं। यहां यह विचारणीय है कि 'गौरादि' गण में **पिप्पल्यादयश्च** गणसूत्र की तथा उसके द्वारा पिप्पल्यादि गण के निर्देश की क्या आवश्यकता है। यह तो संस्कृत व्याकरण का सामान्य विद्यार्थी भी जानता है कि गौरादिगण आकृतिगण है। आकृतिगण की परिभाषा करते हुए वैयाकरणों ने यह स्वीकार किया है कि प्रयोग की समानता के आधार पर आकृति गणों मे यथेच्छ शब्दों का अन्तर्भाव किया जा सकता है। पदमञ्जरीकार ने स्पष्ट कहा है—**प्रयोगदर्शनेन आकृति-ग्राह्यो गण आकृतिगणः**।[2] इसलिए गौरादिगण के आकृतिगण होने के कारण पिप्पल्यादि से निर्दिष्ट **पिप्पली, हरीतकी** इत्यादि सभी शब्दों का गौरादिगण में स्वतः

---

१. महाभाष्य ७।१।६७ तथा उसके प्रदीप व्याख्यान के अनुसार ङीष्‌रहित उकारान्त 'क्रोष्टु' शब्द का पाठ होना चाहिए।

२. प० मं० भाग १, पृष्ठ ३८०।

अन्तर्भाव हो आता है और इस रूप में पिप्पल्यादि गण के शब्दों से ङीष् की प्राप्ति सर्वथा सुगम है। यदि पिप्पल्यादि गण की सत्ता ही अभीष्ट हो तो स्वयं उसके भी आकृतिगण होने से उसमें ही गौरादिगण से निष्पन्न 'गौरी' आदि अभीष्ट शब्दों का अन्तर्भाव हो जाएगा। तदनुसार गौरादिगण की सत्ता अवाञ्छनीय एवं अस्वीकार्य हो जाती है। इसलिए न्यूनातिन्यून पाणिनीय गणपाठ की दृष्टि से गौरादिगण में **पिप्पल्यादयश्च** गणसूत्र तथा उससे निर्दिष्ट पिप्पल्यादि गण का निर्धारण सर्वथा अनावश्यक है।[1] **लोहितादि** (४।१।१८), **हरितादि** (४।१।१००) अथवा **कण्वादि** (४।१।१११) जैसे अवान्तर गणों के समान इस पिप्पल्यादि गण को अवान्तर गण भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अष्टाध्यायी के किसी सूत्र मे अवान्तरगण के रूप में इस गण का प्रयोग पाणिनि ने नहीं किया है। इतना ही नहीं, दोनों गौरादि तथा पिप्पल्यादि गणों के शब्दस्वरूपों में एक मौलिक अन्तर भी है। यदि एक के शब्द अकारान्त हैं, तो दूसरे के ईकारान्त। तथा यदि एक के शब्द अनिष्पन्न (ङीष्-रहित) हैं तो दूसरे के निष्पन्न (ङीपन्त)। इसलिए भी पिप्पल्यादि को गौरादि का अवान्तरगण नहीं माना जा सकता। अतः हमारी यह निश्चित धारणा है कि गौरादि गण में गणसूत्र के रूप में दिखाई देने वाला **पिप्पल्यादयश्च** वाक्य पाणिनि से प्राचीन किसी वैयाकरण सूत्रकार का सूत्र है, उसीने अपने गणपाठ में **पिप्पल्यादि** गण का भी निर्धारण किया था।

पाणिनि ने सम्भवतः लाघव की दृष्टि से **पिप्पल्यादि** नाम न रखकर उस के स्थान में **गौरादि** नाम ही रखना उचित समझा, परन्तु दोनों गणों का अभिप्राय एक होने के कारण अनावश्यक होने पर भी, प्रमादवश पाणिनि के गौरादिगण मे पूर्वाचार्य निर्धारित पिप्पल्यादि गण अपने कुछ शब्दों के साथ अपनी आकृति-गणता को द्योतन करते हुए आज भी अपनी सत्ता बनाए हुए है।[2]

---

१. पिप्पल्यादयो गौरादिषु पठ्यन्ते। ङीषन्तपाठस्तु चिन्त्यप्रयोजनः।······ किं च, अवान्तरगणत्वाभ्युपगमोऽपि। बालमनोरमा (४।१।४१)।

२. 'पिप्पल्यादयश्च' गणसूत्र और उसके उदाहरणभूत 'पृथिवी क्रोष्ट्री' आदि शब्दों के विषय में अष्टा० ७।१।६६ का 'एवं गौरादिषु पाठादीकारो भविष्यति। गौरादिषु न पठ्यते। नहि किञ्चित् ङ्यन्तं गौरादिषु पठ्यते इति' भाष्यग्रन्थ और

इसी प्रकार पाणिनीय गणपाठ के कुछ गणों के शब्दों तथा उनका निर्देश करने वाले अष्टाध्यायी के उन उन सूत्रों में आए शब्दों के **स्वरूपों** पर विचार करें तो प्रस्तुत प्रसंग से संबन्ध रखने वाले कुछ और संकेत भी उपलब्ध हो सकते हैं। उदाहरण के लिए **नन्द्यादि** (३।१।१३४), **ग्रह्यादि**, (३।१।१३४) **पचादि** (३।१।१३४) तथा **भिदादि** (३।३।१०४) गण द्रष्टव्य हैं। स्पष्ट है कि इन गणों में **नन्दनः ग्राही**, **पचः** तथा **भिदा** जैसे निष्पन्न शब्दों का पाठ किया गया है। यह **स्वरूप** उन **उन** सूत्रों से विधीयमान प्रत्ययों का उन उन धातुओं के साथ संयोग होने पर ही बनता है, परन्तु इन गणों से संबन्ध रखकर अभिप्रेत प्रत्ययों का विधान करने वाले **नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः** (३।१।१३४) तथा **षिद्भिदादिभ्योऽङ्** (३।३।१०४) सूत्रों में इनकी प्रकृतिभूत **नन्दि**, **ग्रहि**, **पच**, **भिद** आदि धातुओं का ही निर्देश किया गया है। इस विषमता के साथ साथ, ठीक इस के विपरीत स्थिति भी गणपाठ में उपलब्ध होती है। **नित्यं सपत्न्यादिषु** (४।१।३५) सूत्र गणपाठ के **सपत्न्यादि** गण से संबन्ध रखता है। परन्तु दोनों में पर्याप्त विषमता है। गणपाठ के इस गण में **समान**, **एक**, **वीर** आदि **पत्नी**-शब्दरहित केवल पूर्वपद के शब्दों का ही पाठ मिलता है। परन्तु सूत्र में गणनिर्देशक शब्द **सपत्न्यादि** है। सूत्रनिर्देश के अनुसार गणपाठ में **सपत्नी एकपत्नी** आदि शब्दों का पाठ होना चाहिए था, अथवा इस गण में पठित शब्दों के अनुसार इस गण का नाम **समानादि** होना चाहिए था। तदनुसार इस गण से सम्बद्ध पाणिनि के सूत्र का पाठ होना चाहिए था—**नित्यं समानादिभ्यः**। प्रकरण को दृष्टि में रखते हुए यह सूत्र रचना स्वाभाविक थी और पर्याप्त भी। क्योंकि **पत्युर्नो यज्ञसंयोगे** (४।१।३३) इस पूर्व सूत्र से **पति** शब्द की अनुवृत्ति तो आ ही रही है, उससे **पत्यन्त** अभिप्राय सूत्रार्थ में स्वतः उपस्थित हो जाता।

उस का व्याख्यानभूत 'गौरादिपाठादिति–पृथिवी क्रोष्टु पिप्पल्यादयश्चेति छेदाध्यायिनः पठन्ति। न किञ्चिदिति-संहिताध्यायिनो न पठन्ति' प्रदीप-ग्रन्थ विशेष द्रष्टव्य और विचारणीय है। कैयट के 'छेदाध्यायिनः' और 'संहिताध्यायिनः' निर्देश अत्यधिक महत्त्व रखते हैं। सम्पूर्ण गणपाठ का इस दृष्टि से भी विचार करना आवश्यक है। सम्पादक।

पणिनीय सूत्रपाठ और गणपाठ दोनों में एक प्रकार की विषमता और भी उपलब्ध होती है। पाणिनि का सूत्र है—**अव्ययीभावाच्च** (४।३।५९), परन्तु गणपाठ में इस में प्रसङ्ग **परिमुख, परिहनु** आदि विशिष्ट शब्दों का पाठ मिलता है।[1] यहां सूत्र और गणस्थ शब्दों में न पूर्वपद की समानता है, न प्रकृत्यंश की, और न सूत्रविहित प्रत्ययसन्नियोग से निष्पन्न शब्दों का ही निर्देश है।

उपर्युक्त तीनों प्रकार की विषमताएं इस संभावना को व्यक्त करती हैं कि पाणिनि ने अपने से पूर्वभावी किसी आचार्य के गणपाठ अथवा सूत्रपाठ का अनुसरण करते हुए सूत्ररचना के अनुकूल इन गणों के स्वरूप का निर्धारण नहीं किया, अथवा गणों में विद्यमान शब्दों के स्वरूप के अनुकूल सूत्ररचना को नहीं अपनाया। दोनों में से किसी भी एक स्थिति को मानने पर उपर्युक्त गणों की सत्ता पाणिनि से पूर्व स्वतः सिद्ध होती है।

कात्यायन तथा पतञ्जलि के संकेत

पाणिनि के **गोत्रावयवात्** (४।१।७९) सूत्र की आवश्यकता पर विचार करते हुए कात्यायन के **सिद्धं तु रौढ्यादिषूपसंख्यानात्**[2] वार्तिक भी इस प्रसंग में विशेष विचारणीय है। कात्यायन का यह विचार है कि पाणिनि के उक्त सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है। इस सूत्र के द्वारा जिन शब्दों से **ष्यङ्** आदेश अभीष्ट है उन का **रौढ्यादि** गण में उपसंख्यान कर दिया जायगा। परन्तु प्रश्न यह है कि **रौढ्यादि** गण है कहां? पाणिनि के गणपाठ में तो इस नाम का कोई गण है ही नहीं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने यह सूचना दी है कि पाणिनि के गणपाठ मे जिसे **क्रौड्यादि**

---

१. कई वैयाकरण 'अव्ययीभावाच्च' (४।३।५९) सूत्र पर 'परिमुखादिभ्य उपसंख्यानम्' वार्तिक को देखकर परिमुखादि को वार्तिकगण मानते हैं। न्यासकार ने परिमुखादि को वार्तिकगण न मानकर गणपाठस्थ गण ही स्वीकार किया है और सूत्रपाठ तथा गणपाठ की विषमता के कारण का विस्तार से प्रतिपादन किया है। गणरत्नावलीकार यज्ञेश्वर भट्ट ने भी परिमुखादि गण को गणकार का ही स्वीकार किया है (पृष्ठ २६१, हमारा हस्तलेख)। बालमनोरमा और तत्त्वबोधिनी के रचयिताओं का भी यही मत है। सम्पा०।

२. महा० ४।१।७९॥ सम्पादक के मत में यह कात्यायन का वार्तिक नहीं है। इस पर विशेष विचार परिशिष्ट में देखें।

नाम दिया है, उसे ही किसी पूर्वाचार्य के गण में **रौढ्यादि** नाम दिया गया था।[1] पर आश्चर्य है कि पाणिनि के क्रौड्यादि **गण** में 'रौढि' शब्द क्यों नहीं दिखाई देता ?

अपने गणपाठ में रौढ्यादि गण का निर्देश करने वाला यह प्राचीन आचार्य कौन था, यह ठीक ठीक निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। व्याकरण के वाङ्मय में एक रौढि नाम का आचार्य प्रसिद्ध है।[2] क्या रौढ्यादि गण के साथ उसका कुछ संबन्ध हो सकता है ?

प्रो० बुहलर तथा उनके अनुयायी प्रो० बर्नेल का यह विचार है कि "अष्टाध्यायी में प्राचीन आचार्य शाकटायन के जो दो तीन मत उद्धृत हैं, वे सभी अर्वाचीन जैन शाकटायन व्याकरण में भी उपलब्ध होते हैं।" यतः कहीं भी उस प्राचीन आचार्य का नाम लेकर उन मतों को जैन शाकटायन व्याकरण मे उपस्थित नहीं किया गया, इसलिए इन विद्वानों की धारणा है कि पाल्यकीर्ति के जैन शाकटायन व्याकरण का आधार पाणिनि द्वारा स्मृत प्राचीन शाकटायन व्याकरण ही था।[3] यद्यपि यह धारणा बहुत सुस्पष्ट तथा प्रौढ़ युक्ति वाली नहीं है, पर यदि इन की यह धारणा किसी प्रकार ठीक मानली जाए तो उसी धारणा के आधार पर यह संभावना भी की जा सकती है कि पाणिनि के क्रौड्यादि गण का पूर्वरूप रौढ्यादि गण का निर्धारण भी प्राचीन आचार्य शाकटायन द्वारा ही किया गया होगा। प्राचीन शाकटायन के **रौढ्यादि** नाम का दूसरा रूप **रूढादि** आज भी जैन शाकटायन व्याकरण में विद्यमान है।[4]

चाक्रवर्मण का सर्वादिगण

पाणिनि की अष्टाध्यायी मे स्मृत आचार्य चाक्रवर्मण के मत मे **द्वय** शब्द की भी सर्वनाम संज्ञा होती थी, ऐसा कतिपय विद्वानों का कथन है।[5]

---

१. के पुना रौढ्यादयः ? ये क्रौड्यादयः। महाभाष्य। द्र० कैयट—'पूर्वाचार्य-संज्ञया एवमभिहितम् इत्यर्थः। महा० प्रदीप ४।१।७९।

२ इस आचार्य के सामान्य परिचय के लिए सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ६६ (प्र० सं०) देखिए।

३. द्र० आन दी ऐन्द्रस्कूल आफ संस्कृत ग्रामेरियन्स, पृष्ठ ६६ तथा उसके आगे।

४ रूढादिभ्यः १।३।४॥

५. यत्तु कश्चिदाह चाक्रवर्मणव्याकरणे द्वयपदस्यापि सर्वनामताभ्युपगमात्……। शब्दकौस्तुभ १।१।२७॥

पाणिनि के व्याकरण में **द्वय** शब्द की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती, क्योंकि सर्वनाम संज्ञा करने वाले **सर्वादीनि सर्वनामानि** (१।१।२७) सूत्र से संबद्ध **सर्वादि** गण व्यवस्थित गण है, आकृति गण नहीं है। इसलिए उसमें किसी अन्य शब्द का समावेश नहीं हो सकता। पाणिनि के सर्वादिगण में 'द्वय' शब्द पठित नहीं है। यद्यपि **द्वि** शब्द अवश्य पठित है, परन्तु **द्वि** तथा **द्वय** दोनों शब्दों के स्वरूप में पर्याप्त अन्तर है। उपरिनिर्दिष्ट विद्वानों की सूचना के अनुसार चान्द्रवर्मण के मत को दृष्टि मे रखते हुए यह सम्भावना की जासकती है कि चान्द्रवर्मण ने अपने 'सर्वादि' गण में 'द्वय' शब्द को भी पढ़ा था।

वर्धमान के सङ्केत

वर्धमान ने अपनी गणरत्नमहोदधि के **शरदादि** गण में **पथिन्** शब्द के पाठ को निष्प्रयोजन मान कर भी वृद्ध वैयाकरणों के अभिप्रायानुसार इसका पाठ किया है।[1] यहां वृद्ध वैयाकरण शब्द से वर्धमान को पाणिनि कथमपि इष्ट नहीं है। इसमे दो हेतु हैं। प्रथम–जहां कहीं भी वर्धमान को पाणिनि के निर्देश की आवश्यकता उपस्थित होती है, वहां सर्वत्र वर्धमान पाणिनि के नाम का स्पष्टरूप से उल्लेख करता है। दूसरा वृद्ध-वैयाकरणों के जिन मतों को वर्धमान ने यथावसर अपनी व्याख्या में प्रस्तुत किया है, वे मत पाणिनि की अष्टाध्यायी मे नहीं मिलते। यथा **ब्राह्मणादि** गण के शब्दों की व्याख्या के प्रसङ्ग में वर्धमान ने **गडुलदायादविशस्तिविविशम्पुर-शब्देभ्यस्त्वतलौ न भवत इति वृद्धाः**[2] कह कर वृद्ध वैयाकरणों का जो मत उद्धृत किया है वह स्पष्टतः पाणिनीय व्याकरण में नहीं मिलता। इन हेतुओं से वर्धमान के पूर्वपाठ में वृद्ध वैयाकरण शब्द द्वारा पाणिनि से प्राचीन किसी ऐसे वैयाकरण का निर्देश किया गया है, जिसके **शरदादि** गण मे **पथिन्** शब्द का पाठ स्वर की दृष्टि से किया गया था। उसी के आधार पर पाणिनि ने भी अपने **शरदादि** (५।४।१०७) गण में चित्स्वर की दृष्टि से पथिन् शब्द का निर्धारण किया होगा। (वर्धमान आदि उत्तरकालीन वैया-

---

१. प्रतिपथमनुपथम् ऋक्पूरब्धू० इत्यनेनैव समासान्तस्य सिद्धत्वाद् अस्य पाठो न संगतः प्रतिभाति, परं वृद्धवैयाकरणमतानुरोधेन पठितः। गणरत्नमहोदधि पृष्ठ ६५।

२. गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २२५।

करणों ने स्वर की सर्वथा उपेक्षा की है। अत एव वर्धमान को शरदादि गण में पथिन् शब्द का पाठ निष्प्रयोजन प्रतीत हुआ।)

इसके अतिरिक्त **तारकादि** गण के अन्तर्गत **तन्त्र** शब्द की व्याख्या में, उसके पाठभेद के रूप मे द्रमिड़ वैयाकरणों से अभिमत **तन्द्रा** शब्द का उल्लेख वर्धमान ने किया है।[1] ये द्रमिड़ वैयाकरण कौन थे यह अभी तक अज्ञात है। इतना अवश्य है कि क्षीरस्वामी ने इन द्रविड़ अथवा द्रमिड़ वैयाकरणों का उल्लेख अपनी क्षीरतरङ्गिणी नाम की धातुवृत्ति[2] और अमरकोश की व्याख्या मे अनेकधा किया है। धातुवृत्तिकार सायण ने भी धनपाल के एक ऐसे उद्धरण को उपस्थापित किया है, जिसमे उसने द्रविड़ और आर्य वैयाकरणों के दो विभिन्न पाठ प्रस्तुत किए हैं।[4] धातुवृत्ति से ही यह भी पता लगता है कि ये द्रविड़ वैयाकरण **तप** (ऐश्वर्ये) के स्थान मे **पत** धातु का पाठ मानते थे।[5] इन उपर्युक्त उद्धरणों से न्यूनातिन्यून इतना तो निश्चित ही हो जाता है कि इन द्रविड़ वैयाकरणों द्वारा निर्धारित धातुपाठ किसी समय अवश्य विद्यमान था। साथ ही वर्धमान के उपरिनिर्दिष्ट उल्लेख से तथा इनके धातुपाठ की सत्ता के निश्चय से द्रविड़ वैयाकरणों द्वारा गणपाठ के निर्धारण की भी पर्याप्त संभावना है। पाणिनि के उत्तरवर्ती चन्द्रगोमी आदि वैयाकरणों की क्रमबद्ध व्याकरण-परम्परा आज भी उपलब्ध है, परन्तु द्रविड़ वैयाकरणों का केवल नाम अथवा कतिपय इने गिने उद्धरण ही देखने को मिलते हैं। इसलिए इस बात की भी पूरी संभावना है कि ये द्रविड़ वैयाकरण पाणिनि से प्राचीन किसी दाक्षिणात्य वैयाकरणों की परम्परा के रहे हों।

---

१. तन्द्रा आलस्यमिति द्रमिडाः पठन्ति। गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ ४१४।

२. द्र० धातुसूत्र १।३६, ५१, २१३ इत्यादि।

३. द्र० अमरटीका क्षीरस्वामी, पृष्ठ ६८, १६५, २१०।

४. अति अदि बन्धने। अत्र धनपालः—तान्तं द्रविड़ाः पठन्ति, आर्यास्तु दान्तमिति। पृष्ठ ५२।

५. द्र० धातुवृत्ति, पृष्ठ २६३।

तृतीय अध्याय

आचार्य पाणिनि और उन का गणपाठ

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आचार्य पाणिनि से पूर्व वैयाकरणों की एक सुदीर्घ परम्परा भारतवर्ष मे विद्यमान थी। इस परम्परा के जिन विभिन्न व्याकरणों की पृष्ठभूमि पर पाणिनीय व्याकरण का निर्माण संभव हो सका, वे सभी प्राचीन व्याकरण सम्प्रति अनुपलब्ध है। ऐसी स्थिति मे उन के स्वरूप के विषय में कुछ भी धारणा बनानी अनुचित होगी, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिनि से पूर्व के व्याकरण-दीपक विशालतम संस्कृत भाषा के एक एक कोने को ही प्रकाशित कर पाते थे। भाषा-धारा की सतत परिवर्तमान स्वाभाविक एवं स्वच्छन्द गतिविधि से परित्यक्त तथा अधिकृत सभी पुराने तथा नये प्रदेशों का यथावश्यक सूक्ष्म ध्यान रखकर सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय को प्रकाशित करने वाले स्पष्ट, सरल एवं सूक्ष्म सूत्र-शेली मे निबद्ध व्याकरण के महान् अभाव की पूर्ति एक मात्र आचार्य पाणिनि के द्वारा ही सम्भव हो सकी। सम्भवतः यही कारण है कि लौकिक वैदिक शब्दों को व्याप्त करने वाले पाणिनीय शब्दानुशासन के महान् प्रकाशस्तम्भ के जाज्वल्यमान पारदर्शी प्रकाश के सम्मुख प्राचीन व्याकरण अभिभूत होते गए और कुछ समय पश्चात् नाम शेषता को प्राप्त हो गए। इतना ही नहीं, अपने उत्तरवर्ती आचार्य चन्द्रगोमी, पूज्यपाद (देवनन्दी), पाल्यकीर्ति, श्रीभोज, हेमचन्द्र तथा नरेन्द्राचार्य जैसे अनेक वैयाकरणों को अपनी विशिष्ट आभा का मुक्तहस्त दान देता हुआ, विद्वन्मूर्धन्य भाषा-तत्त्वज्ञों की उत्कृष्ट प्रतिभा की खरी कसौटी बना हुआ ढाई सहस्र वर्षों के कराल-क्रूर घटना-चक्रों से उत्पन्न अनिवार्य परिस्थितियों का तिरस्कार करता हुआ महान् सुविहित पाणिनीय शब्दानुशासन आज भी अमिताभ एवं चिर-तेजस्वी बना हुआ संस्कृतवाङ्मय के अगाध महार्णव के मुक्ताग्राहक गम्भीर गोताखोरों के लिए मार्ग प्रदर्शन का कार्य कर रहा है।

पाणिनि का समय

पाणिनि का समय भी ऐतिहासिक अन्वेषकों के लिए प्रारम्भ से ही

पर्याप्त विवाद का विषय रहा है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस विषय में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'इण्डिया एज नोन टु पाणिनि' में पर्याप्त विस्तार से विचार किया है। बहुविध हेतुओं, साहित्यिक युक्तियों, अष्टाध्यायी में मिलने वाले मंखलि गोसाल का वाचक 'मस्करी' शब्द, कुमारीश्रमणा, निर्वाण, निकाय इत्यादि बौद्ध शब्द, श्रविष्ठा नक्षत्र की प्राथमिकता, तारानाथ, कथासरित्-सागर, मञ्जूश्रीमूलकल्प, यूवान् च्वांग और राजशेखर आदि के पाणिनि तथा नन्द विषयक उल्लेखों, पाणिनि-कालिक राजनैतिक स्थितियों, मुद्राओं और मनुष्य-नामों की गम्भीर परीक्षा के आधार पर पाणिनि का समय पांचवी शताब्दी इस्वी पूर्व निश्चित किया है,[1] जिसे हम भी पर्याप्त प्रामाणिक मानते हैं।

पाणिनि की सूत्र-शैली

यों तो ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्मकाण्डी वातावरण मे जन्म ले कर श्रौत, गृह्य तथा धर्मसूत्रों में ही नहीं, अपितु दर्शन आयुर्वेद प्रभृति अनेक क्षेत्रों मे और विशेषतः व्याकरण के क्षेत्र में सूत्रशैली उत्तरोत्तर अपना स्वरूप निर्धारित करती जा रही थी। ऐसे समय मे संस्कृत-व्याकरण के विपुल आकाश मे परम-तेजस्वी महान् सूत्रशिल्पी आचार्य पाणिनि का उदय हुआ। आचार्य पाणिनि की गम्भीर और तेजस्विनी प्रतिभा ने, अपने से प्राचीन आचार्यों के, उपसर्ग अर्थ के वाचक हैं अथवा द्योतक, शब्द का अर्थ व्यक्ति है अथवा जाति, सभी नाम आख्यातज हैं अथवा नहीं, इन विभिन्न मतभेदों से अपने को दूर रख कर तटस्थता की नीति अपनाते हुए अथवा दूसरे शब्दों में मध्यम मार्ग अर्थात् यथावसर उपर्युक्त सभी विचारों का आश्रयण करते हुए, प्राचीन आचार्यों की लोकप्रसिद्ध कालविषयक अथवा उस प्रकार की अन्य परि-भाषाओं के अनावश्यक भार से सूत्र-पद्धति को मुक्त करते हुए[2], सूत्रों के संज्ञा,

---

१. द्र० इण्डिया एज नोन टु पाणिनि। पृष्ठ ४५५-४५७।

विशेष-इस विषय में सम्पादकीय मत सर्वथा भिन्न है। परिशिष्ट में इस विषय में टिप्पणी देखें।

२. पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्। काशिका २ ४।२१; सरस्वतीकण्ठाभरण हृदयहारिणी टीका ३।३।१२६। तुलना करिए-पाणिनोपज्ञमकालकं व्याकरणम्। चान्द्र-वृत्ति २।२।६८।।

परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश, तथा अधिकार इन सभी प्रकारों को अपनाकर अनुवृत्तियों की सहायता से इन सूत्रों को यथासम्भव अधिकाधिक सूक्ष्म और व्यापक बनाते हुए, नए नए प्रत्याहारों तथा अनुबन्धों के आकर्षक अलंकारों तथा गणपाठ और धातुपाठ के तानेबाने वाले झीने, पर अछोर परिधान देकर सूत्र-शैली को वह प्रौढ़ता तथा अनुपम निखार प्रदान किया, जिसके बल पर सूत्र-शैली ने अपनी अदाओं से संस्कृत भाषा के किन किन गम्भीर रहस्यों को अभिव्यक्त किया, यह तो कात्यायन, पतञ्जलि तथा भर्तृहरि जैसे पाणिनि के हृदय को समझनेवाले विद्वान् ही बता सकते हैं, परन्तु इतना अवश्य स्वीकार करना होगा कि पाणिनि की इस विशिष्ट सूत्रशैली का ही वह प्रभाव था, जिसने पूरे संस्कृत व्याकरण को ही सूत्रमय बना दिया, तथा उस के विषय में **महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य**[1] एवं **पाणिनीयं महत् सुविहितम्**[2] जैसे स्तुति के आघोष सर्वत्र सुनाई देने लगे। ऐसी अवस्था में पाणिनि का नाम लोक में इतना प्रकाशित हुआ[3] कि उनके यश के कथामृत से देश के छोटे छोटे बच्चे भी अपने कानों को पवित्र करने लगे।[4]

सूत्र-रचना के पूर्व ही गणपाठ का निर्धारण

आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी के सूत्रों की रचना करने से पूर्व ही गणपाठ का सुव्यवस्थित निर्धारण कर लिया था, इस तथ्य के बड़े सुस्पष्ट प्रचुर प्रमाण अष्टाध्यायी, वार्तिकपाठ तथा महाभाष्य से प्राप्त किए जा सकते हैं।

सूत्रों का साक्ष्य

सर्व प्रथम हम अष्टाध्यायी के ऐसे सूत्रों का साक्ष्य उपस्थित करते हैं, जिनसे सूत्ररचना से पूर्व गणपाठ के निर्धारण कर लेने का ज्ञापन होता है। ये सूत्र कई प्रकार हैं। यथा—

१—इस प्रसंग में अष्टाध्यायी के उन सूत्रों को उपस्थापित किया जा सकता है, जिनमें सूत्रकार ने **आदि** अथवा **प्रभृति** अथवा किसी शब्द का

---

१. काशिका ४।२।७४ ॥ २. महाभाष्य ४।३।६६ ॥

३. पाणिनिशब्दो लोके प्रकाशते। काशिका २।१।६ ॥

४. आकुमारं यशः पाणिनेः। काशिका २।१।१३ ॥

बहुवचनान्त प्रयोग करके किसी गण अथवा विशिष्ट शब्द समूह का संकेत किया है। यथा—

सर्वादीनि सर्वनामानि । १।१।२७ ॥

साक्षात्प्रभृतीनि च । १।४।७४ ॥

सप्तमी शौण्डैः । २।१।४० ॥

इन सूत्रों से संबद्ध **सर्वादि, साक्षादादि** तथा **शौण्डादि** शब्दों का सम्यक् निर्धारण स्वयं सूत्रकार ने न किया होता तो वह इस तरह की सूत्ररचना को कैसे अपना सकता था।[1]

२—दूसरे प्रकार के वे सूत्र हैं, जिनमें सूत्रकार ने किसी गण के कतिपय शब्दों की विशिष्ट आनुपूर्वी का संकेत किया है।[2] यथा—

अदड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः । ७।१।२५ ॥

पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा । ७।१।१६ ॥

त्यदादीनि च । १।१।७४ ॥

त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् । १।२।७२ ॥

सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः । ४।१।१८ ॥

इन सूत्रों में से पहले चार सूत्रों में पाणिनि ने सर्वादिगण में पठित **इतर** आदि पांच, **पूर्व** आदि नव और **त्यद्** आदि शब्दों के विशिष्ट क्रम अथवा सुव्यवस्थित पाठ का संकेत किया है। यदि उक्त सूत्रों की दृष्टि से पाणिनि ने सर्वादिगण में इन शब्दों का सुव्यवस्थित पाठ न किया होता तो उक्त सूत्रों से विहित कार्य सर्वादिगण के अन्य शब्दों से भी प्राप्त हो जाते, उस अवस्था में इन सूत्रों द्वारा किन्हीं विशिष्ट शब्दों से विशिष्ट कार्यों का विधान करना ही व्यर्थ हो जाता। प्रथम दो सूत्रों में पठित **पञ्चभ्यः** और **नवभ्यः** शब्द तो उक्त संकेत के और भी अधिक स्पष्ट द्योतक हैं। अन्तिम **सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः** सूत्र से गर्गादिगण के अन्तर्गत लोहितादि अवान्तरगण के **लोहित** से कतपर्यन्त शब्दों की विशिष्ट आनुपूर्वी का संकेत प्राप्त होता है।

---

१. द्र० यदादिग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः—अस्ति ह पाठो बाह्यश्च सूत्रात्। महा० १।३।१ ॥

२. यह सूत्र संकेतित क्रम गणपाठ में आज भी उसी रूप में उपलब्ध होता है।

३—तीसरे प्रकार के वे सूत्र हैं, जो गणशैली का आश्रयण लेकर विधान किए गए किसी प्रत्यय विशेष के परे रहने पर कार्य विशेष का विधान करते हैं। यथा—

प्रवाहणस्य ढे। ७।३।२८॥
बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक्। ६।४।१५३॥
वर्ग्यादयश्च। ६।२।१३१॥

इनमें प्रथम **ढक्** प्रत्यय के परे रहने पर **प्रवाहण** शब्द के उत्तरपद के आदि अच् को वृद्धि का विधान करता है। 'प्रवाहण' शब्द से ढक् की प्राप्ति केवल **शुभ्रादिभ्यश्च** (४।१।१२३) सूत्र निर्दिष्ट शुभ्रादिगण में 'प्रवाहण' शब्द के बल पर ही सम्भव है। इसलिए **प्रवाहणस्य ढे** सूत्र इस बात का निश्चायक है कि इस सूत्र को बनाने से पूर्व ही सूत्रकार ने शुभ्रादि गण, उस में 'प्रवाहण' शब्द का पाठ और शुभ्रादि गण से ढक् प्रत्यय का विधान, इन तीनों कार्यों को सम्पन्न कर लिया था।

द्वितीय सूत्र बिल्वक आदि शब्दों से उत्तर विद्यमान भसंज्ञक छ प्रत्यय का तद्धित प्रत्यय परे लुक् का विधान करता है। इस सूत्र में निर्दिष्ट बिल्व-कादि शब्द **नडादीनां कुक् च** (४।२।९१) सूत्र विहित कुक् आगम युक्त हैं। इस लिए **बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक्** सूत्र में कृत कुगागम बिल्वकादि शब्दों का निर्देश, नडादि गण और उस में बिल्व आदि शब्दों की पूर्व प्रकल्पना को द्योतित करता है।

तृतीय सूत्र यत्प्रत्ययान्त वर्ग आदि उत्तरपदों का कर्मधारयभिन्न तत्पुरुष समास में आद्युदात्तत्व का विधान करता है। वर्ग आदि शब्दों से यत् प्रत्यय की प्राप्ति **दिगादिभ्यो यत्** (४।३।५४) सूत्र निर्दिष्ट दिगादि गण में वर्ग आदि शब्दों के पाठ के बल पर ही सम्भव है। इसलिए **वर्ग्यादयश्च** सूत्र में यत्प्रत्ययान्त वर्ग आदि शब्दों का निर्देश दिगादि गण, उस में वर्गादि शब्दों का पाठ और उस से यत्प्रत्यय का विधान, इन तीनों बातों की पूर्व प्रकल्पना का द्योतक है।

४—चौथे प्रकार के सूत्र वे हैं, जो किन्हीं गणों में पढ़े गए अवान्तर-गणों का निर्देश करते हैं। यथा—

सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः। ४।१।१८॥
कण्वादिभ्यो गोत्रे। ४।२।१११॥

न गोपवनादिभ्यः । २।४।६७ ॥

हरितादिभ्योऽञः । ४।१।१०० ॥

प्रथम सूत्र मे **गर्गादिभ्यो गोत्रे** (४।१।१०५) सूत्रनिर्दिष्ट गर्गादि गण के अन्तर्गत पठित लोहितादिगण का और द्वितीय तृतीय और चतुर्थ सूत्रों में क्रमशः **बिदादिभ्योऽञ्** (४।१।१०४) निर्दिष्ट बिदादि गण के अन्तर्गत पठित कण्वादि, गोपवनादि तथा हरितादि गणों का निर्देश मिलता है। इन अवान्तर गणों के निर्देशों से स्पष्ट है कि पाणिनि ने उक्त अवान्तर गणों के निर्देश करने वाले सूत्रों की रचना से पूर्व गर्गादि और बिदादि इन प्रधान गणों के शब्दों का निर्धारण कर लिया था।

५—पांचवें प्रकार के वे सूत्र हैं, जिनमें निर्दिष्ट गणों के अन्तर्गत पठित शब्दों से सामान्यविहित कार्य की स्वतः प्राप्ति होने पर भी, उन शब्दों का किसी गण-विशेष में पाठ होने के कारण पुनः सामान्यविहित कार्य का विधान करना पडा। यथा—

शुण्डिकादिभ्योऽण् । ४।३।७६ ॥

सूत्र पठित शुण्डिक आदि शब्दों से **प्राग्दीव्यतोऽण्** (४।१।८३) सूत्रविहित यथाप्राप्त अण् प्राप्त था, परन्तु कतिपय शब्दों में पूर्वविहित ठक्, 'उदपान' शब्द का **उत्सादिगण** (४।१।८६) में पाठ होने से '**अञ्**' 'तीर्थ' शब्द का **धूमादिगण** (४।२।१२७) मे पाठ होने से **वुञ्** आदि की प्राप्ति थी।[1] उन को हटाकर अण् ही होवे, इसलिए इस सूत्र और एतत्सूत्र निर्दिष्ट गण का पाठ सूत्रकार ने किया है। इस से स्पष्ट है कि इस सूत्र और गण की रचना से पूर्व उत्सादि तथा धूमादि गणों की प्रकल्पना की जा चुकी थी।

६—इसी प्रसङ्ग में अष्टाध्यायी के धातु-प्रकरण मे पठित **कण्ड्वादिभ्यो यक्** (३।१।२७) सूत्र तथा कण्ड्वादि गण में पठित **कण्डू** आदि दीर्घान्त शब्दों की ओर विद्वन्महानुभावों का ध्यान आकृष्ट करना भी आवश्यक है। यहां सूत्रकार और गणकार दोनों के द्वारा 'कण्ड्वादि'-गण-पठित शब्दों के द्वैविध्य=धातुत्व तथा प्रातिपदिकत्व के प्रतिपादन

---

१ इस प्रकरण के स्पष्टीकरण के लिए इसी सूत्र का न्यास ग्रन्थ देखना चाहिए।

के लिए संहत प्रयत्न किया गया है। यह संहत प्रयत्न भी इस तथ्य का पर्याप्त उपोद्बलक है कि अष्टाध्यायी के सूत्रों तथा तत्संबद्ध गणपाठ दोनों की रचना तथा निर्धारण एक ही आचार्य ने किया था।

वार्तिकों का साक्ष्य

आचार्य कात्यायन के वार्तिकों से भी इस विषय के पर्याप्त संकेत मिलते हैं कि गणपाठ और सूत्रपाठ का प्रवक्ता एक ही आचार्य है। गणपाठ से सम्बद्ध वार्तिकों और उनके द्वारा उपस्थापित विषयों को तो यथावसर अन्यत्र प्रस्तुत किया जायगा, यहां केवल प्रस्तुत प्रसंग से संबद्ध कतिपय प्रमुख वार्तिकों की ओर ही पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं।

१—गणपाठ के साथ अष्टाध्यायी का साक्षात् संबन्ध दर्शाने वाली निम्न वार्तिकें अत्यन्त महत्त्व की हैं—

क-अवरादीनां पुनः सूत्रपाठे ग्रहणानर्थक्यं, गणे पठितत्वात्।[1]

ख-लोहितडाज्भ्यः क्यष्वचनम्, भृशादिष्वितराणि।[2]

ग-पाठात्पर्युदासः, पठितानां संज्ञाकरणम्।[3]

घ-एकशितिपात्स्वरवचनं तु ज्ञापकं निमित्तस्वरबलीयस्त्वस्य।[4]

ङ-भ्रातुष्पुत्रग्रहणं ज्ञापकम् एकदेशनिमित्तात् षत्वप्रतिषेधस्य।[5]

इत्यादि कत्यायन के वार्तिक बड़े स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा कर रहे हैं कि सूत्रकार और गणकार एक ही व्यक्ति है, और वह है आचार्य पाणिनि।

२—कतिपय वार्तिकों में अष्टाध्यायी के सूत्रों की व्याख्या के प्रसंग से विभिन्न गणों में पठित विशिष्ट शब्दों के पाठ पर विचार किया है। यथा—

क-भिक्षादिषु युवतिग्रहणानर्थक्यम्, पुंवद्भावस्य सिद्धत्वात् प्रत्ययविधौ।[6]

ख-बिल्वादिषु गवीधुकाग्रहणं मयट्प्रतिषेधार्थम्।[7]

---

१. महा० नवा० १।१।३३; पृष्ठ ३१०। २. महा० ३।१।१३॥
३. महा० नवा० १।१।२६; पृष्ठ २६४। ४. महा० २।१।१॥
५. महा० ८।३।४१॥ ६. महा० ४।२।३८॥
७. महा० ४।३।१३४॥

३—कत्यायन की कुछ वार्तिकें ऐसी हैं, जिनमें किसी गण में पठित शब्दों की न्यूनता देखकर उनमें अन्य शब्दों के उपसंख्यान की आवश्यकता दर्शाई है। यथा—

क-मरुच्छब्दस्योपसंख्यानम् ।[१]

ख-श्रच्छब्दस्योपसंख्यानम् ।[१]

४—कतिपय वार्तिकें ऐसी हैं, जिनमें विभिन्नगणों मे पठित कुछ एक शब्दों के साथ विशिष्ट उपाधियों का संयोजन किया है। यथा—

क-तिष्ठद्गुः कालविशेषे ।[२]

ख-खलेयग्रादीनि प्रथमान्तान्यन्यपदार्थे ।[२]

ग-शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः ।[३]

इन उपाधियों के विना अनिष्ट प्रयोगों की प्राप्ति होती है।

५—कुछ वार्किों में कात्यायन ने यह विचार व्यक्त किया है कि **सप्तमी शौण्डैः** (२।१।४०) अथवा **अर्धर्चाः पुंसि च** (२।४।३१) जैसे सूत्रों में जहां पाणिनि ने बहुवचान्त प्रयोग द्वारा गणनिर्देश किया है वहां स्पष्टत. **आदि** पद का निर्देश करना चाहिए। यथा—

क-शौण्डादिभिः ।[४] **ख-अर्धर्चादयः** ।[५]

उपर्युक्त वार्तिकों से स्पष्ट है कि आचार्य कात्यायन सूत्रकार और गणकार को एक ही व्यक्ति मानते हैं और सूत्र की रचना से पूर्व गणपाठ के निर्धारण का संकेत भी करते हैं।

महाभाष्य का साक्ष्य

महाभष्यकार पतञ्जलि ने **स पूर्वः पाठः, अयं पुनः पाठः**[६] कह कर बड़े स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया है कि पाणिनि ने सूत्र-रचना से पूर्व ही गणपाठ का निर्धारण कर लिया था। इस प्रतिज्ञा में हेतु उपस्थित करते हुए पतञ्जलि ने लिखा है—

यदयं 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' (७।१।१६) **इति नवग्रहणं करोति। नवैव हि पूर्वादीनि** ।[७]

---

१. महा० १।४।५८॥ २. महा० २।१।१७॥
३. महा० ४।१।४॥ ४. महा० २।१।४०॥
५. महा० २।४।३१॥ ६. महा० नवा० १।२।३३; पृष्ठ ३११॥
७. महा० नवा० १।१।३३, पृष्ठ ३११॥

कैयट इसकी व्याख्या में लिखता है—

तत्र हि नवग्रहणं त्यदादीनां निरासार्थं क्रियते। यदि च नियतसंनिवेशो गणपाठः पूर्वैः, ततोऽधिकव्यवच्छेदार्थं नवग्रहणं कर्तव्यम्।

इतना ही नहीं, आचार्य पतञ्जलि ने अनेक स्थानों पर गणपाठ में पठित शब्दों को सूत्रवत् पाणिनीय स्वीकार करते हुए और सूत्रवत् ही प्रामाणिक मानते हुए उनके द्वारा सूत्रकार आचार्य पाणिनि की विविध प्रवृतियों का ज्ञापन किया है। इस दृष्टि से

क—एवं तर्हि, आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नोदात्तनिवृत्तिस्वरः शुन्यत्रतरति, यदयं श्वन्शब्दं गौरादिषु पठति, अन्तोदात्तार्थं यत्नं करोति, सिद्धं हि स्यान्ङीपैव। महा० १।४।२; ६।४।२२॥

ख—एवं तर्हि, आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न तद्विशेषेभ्यो भवति, यदयं विपाट्शब्दं शरत्प्रभृतिषु पठति। महा० नवा० १।१।२२, पृष्ठ २७६॥

ग—एवं तर्हि, सिद्धे सति यत्सवनादिषु अश्वसनिशब्दं पठति तज्ज्ञापयत्याचार्योऽनिणन्तादपि षत्वं भवतीति। महा० ८।३।११०॥

घ—आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवत्यृकारान्नो णत्वमिति यदयं क्षुभ्नादिषु नृनमन्शब्दं पठति।……………एवं तर्हि यत्तृप्नोतिशब्दं पठति। महा० नवा० १।१। प्रत्या० ४, पृष्ठ १०८।

उद्धरण विशेष महत्व के हैं। इन में व्याकरण-शास्त्र के महान् मनीषी पतञ्जलि ने क्रमशः गौरादिगण (४।१।४१) के 'श्वन्' शब्द, शरत्प्रभृति (५।४।१०७) के 'विपाट्' शब्द, सवनादिगण (८.३।११०) के 'अश्वसनि' शब्द और क्षुभ्नादिगण (८.१।३९) के 'नृनमन्' तथा 'तृप्नु' शब्दों का निर्देश करके इन के पाणिनियत्व की स्पष्ट घोषणा की।

इस प्रकार पाणिनि की अष्टाध्यायी के अन्तःसाक्ष्य तथा उसके प्रामाणिक व्याख्याता कात्यायन और पतञ्जलि के पूर्वनिर्दिष्ट प्रचुर प्रमाण प्रस्तुत कर देने के पश्चात् उनके अनुयायी काशिकाकार, कैयट, भट्टोजी दीक्षित तथा नागेश भट्ट आदि के वचनों को विद्वानों के समक्ष उपस्थित करना पिष्टपेषणमात्र होगा।

न्यासकार के आक्षेप

काशिकाविवरणपञ्जिका अथवा न्यास के रचयिता जिनेन्द्रबुद्धि का मत इससे भिन्न है। वह पाणिनीय-तन्त्र संबद्ध गणपाठ को अपाणिनीय

मानता है। उसके अपाणिनीयत्व प्रतिपादक हेतु इस प्रकार हैं—

१–न्यासकार का प्रथम हेतु है कि यदि सूत्रकार और गणकार एक ही व्यक्ति होता तो 'गर्गादि' गण में तथा उसी प्रकरण के **मधुबभ्र्वोर्ब्राह्मणकौशिकयोः**[1] सूत्र में दोनों स्थानों पर 'बभ्रु' शब्द का पाठ न करके केवल गर्गादि गण में ही **बभ्रु कौशिके** ऐसा गणसूत्र पढ़ देता। इस प्रकार सूत्रपाठ में लाघव हो जाता।[2]

२–जिनेन्द्रबुद्धि का दूसरा हेतु यह है कि यदि सूत्रपाठ और गणपाठ दोनों का रचयिता एक ही होता तो वह 'सर्वादि' गण में '**द्वि**' प्रभृति शब्दों से पूर्व ही **किम्** शब्द का पाठ कर देता। इस प्रकार पाठ करने से **किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः**[3] सूत्र में 'किम्' शब्द के पाठ की आवश्यकता न होती।[4]

३–तीसरा हेतु न्यासकार का यह है कि यदि सूत्रपाठ और गणपाठ का कर्त्ता एक ही होता तो वह यौधेयादि गण को चतुर्थ अध्याय के प्रथमपाद (सूत्र-१७८) तथा पांचवें अध्याय के तृतीय पाद (सूत्र ११७) में दो स्थानों पर न पढ़ता।[5]

इन तीन हेतुओं अथवा आक्षेपों को उपस्थित करके न्यासकार ने यह निर्णय दिया है कि सूत्रकार पाणिनि से गणकार कोई भिन्न व्यक्ति है। अतः गणपाठ के यथास्थित पाठ के आधार पर पाणिनि पर कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता।

न्यासकार के आक्षेपों का समाधान

न्यासकार ने गणपाठ के पाणिनीयत्व पर जो आक्षेप किये हैं, वे ऐसे अकाट्य नहीं हैं कि उनका उचित उत्तर ही न दिया जा सके। वस्तुतः न्यासकार के तीनों हेतु हेत्वाभासमात्र हैं। अतः उन में किसी विशिष्ट मत का प्रज्ञापन नहीं हो सकता।

प्रथम हेतु का समाधान–न्यासकार के प्रथम हेतु का समाधान यह है कि गणसूत्रशैली आचार्य पाणिनि की ही उपज्ञात नहीं हैं। उसके गणपाठ में जो गणसूत्र निर्दिष्ट मिलते हैं, वे प्रायः प्राचीन आचार्यों के संगृहीत

---

१. पा० ४।१।१०६ ॥ २. द्र० न्यास ४।१।१०६ ॥
३. पा० ५।३।२ ॥ ४. द्र० न्यास ५।३।२ ॥
५. द्र० न्यास ५।३।११७ ॥

हैं। अतः पाणिनि ने गर्गादि गण में ही **बभ्रु कौशिके** ऐसा सूत्र क्यों नहीं पढ़ा, यह आक्षेप ही नहीं उठता। इतना ही नहीं, आचार्य पाणिनि ने अनेक स्थानों पर प्राचीन आचार्यों के अनुसार सूत्ररचना की है। यथा—

औङ आपः ।७।१।१८॥　　**आङि चापः** ।७।३।१०५॥

आङो नाऽस्त्रियाम् ।७।३।१२०॥

इन सूत्रों मे निर्दिष्ट **औङ** तथा **आङ** प्रत्यय पाणिनि के सम्पूर्ण शब्दानुशासन मे कहीं पर भी निर्दिष्ट नही है। तथापि पाणिनि ने इन का निर्देश किया है। इसी प्रकार पाणिनि ने **वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्** (१।१।७३) सूत्र द्वारा स्वीय वृद्धसंज्ञा का निर्देश करके भी **वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः** (१।२।६५) सूत्र मे वृद्ध शब्द का निर्देश गोत्र के स्थान पर किया है। पाणिनीय शब्दनुशासान मे भी इस प्रकार परस्पर विरोध होने पर यदि वह अपाणिनीय नहीं माना जा सकता और उस मे **निर्देशोऽयं पूर्वसूत्रेण वा स्यात्** पूर्वसूत्रानुसार निर्देश मानकर विरोध अथवा असंगति का परिहार हो सकता है तो उसी के अनुसार उक्त आक्षेप का परिहार भी अनायास हो सकता है।

इतना ही नही, न्यासकार स्वयं अपने 'सूत्रकार अन्य है और गणकार अन्य' समाधान से सन्तुष्ट नही था, क्योंकि गणकार को अन्य मानने पर भी प्रश्न हो सकता है कि उसने ही लाघव के लिए गण मे **बभ्रु कौशिके** ऐसा सूत्र क्यों नही पढ़ा? इसलिए न्यासकार लिखता है—

गणकारेणापि हि न कृतं वैचित्र्यार्थम्, विचित्रा हि गणस्य कृतिर्गणकारेण।[1]

अर्थात्—गणकार ने भी **बभ्रु कौशिके** ऐसा सूत्र नहीं बनाया वैचित्र्य के लिए। गणकार के गण की कृति विचित्र है।

प्रथम तो यह कोई समाधान नही, यदि इसे समाधान मान लिया जाए तो यही समाधान पाणिनि को ही गणकार मानने पर क्यों नहीं दिया जा सकता?

द्वितीय हेतु का समाधान—न्यासकार ने जो दूसरा हेतु दिया है, उस से वह स्वयं सन्तुष्ट नही है। अत एव उसने स्वयं समाधान करते हुए लिखा,

१. न्यास ४।१।१०६, भाग १, पृष्ठ ६०१; द्र० न्यास ५।३।१०७, पृष्ठ १४१।

है कि त्यदादि शब्दों मे जो जो शब्द परे है वह एकशेष में अवशिष्ट रहता है।[1] त्यदादियों के साथ किम् की सहविवक्षा मे **किम्** का ही शेष इष्ट है। यथा–**त्वं च कश्च कौ, भवांश्च कश्च कौ**। यह व्यवस्था 'किम्' को त्यदादि से पूर्व पढ़ने पर नहीं बनती। अतः गणपाठ का यथान्यास पाठ ही ठीक है।[2]

इस प्रकार न्यासकार का दूसरा हेतु उसके समाधान मे ही समाप्त हो जाता है।

तृतीय हेतु का समाधान—न्यासकार ने जो तीसरा हेतु दिया है कि गणपाठ में यौधेयादि गण का दो स्थान पर पाठ क्यों किया है। इसका सीधा साधा उत्तर यह दिया जा सकता है कि यौधेयादि का पुनः पाठ सम्भवतः लेखक प्रमादजन्य हो। इतना ही नही, गणपाठ का रचयिता अन्य व्यक्ति को मानने पर भी न्यासकार का आक्षेप तदवस्थ ही रहता है कि उसने यौधेयादि का पाठ दो बार क्यों किया? इस आपत्ति से बचने के लिए न्यास-कार ने लिखा है–

विचित्रा हि गणानां कृतिर्गणकारस्येति पुनः पठिताः।[3]

अर्थात् गणकार की गणों की कृति विचित्र है, इसलिए उसने इन्हें पुनः पढ़ा है।

प्रथम तो यह कोई उत्तर नहीं है, और यदि यह उत्तर पाणिनि से भिन्न गणकार के लिये हो सकता है तो यही उत्तर पाणिनि को ही गणकार मान कर क्यों नही दिया जा सकता? न्यासकार ने सूत्रकार के लिए भी ऐसे समाधान अन्यत्र दिए हैं। **ङे प्रथमयोरम्** (७।१।२८) सूत्र पर न्यासकार ने लिखा है कि 'पाणिनि ने **ङे सुटोरम्** ऐसा लघुन्यास न करके **ङे प्रथमयोरम्** ऐसा सूत्र वैचित्र्यार्थ किया है'[4] यदि पाणिनि को सूत्रकार मानते हुए उस के सूत्रों के लिए **वैचित्र्यार्थम्** उत्तर हो सकता है तो उन्ही को गणकार मानते हुए, गणपाठ के लिए क्यों नहीं हो सकता?

---

१. त्यदादीनां मिथो यद्यत् परं तत्तच्छिष्यते। स च यश्च यो, यश्च कश्च कौ। काशिका १।२।७२॥ २. न्यास ५।३।२; पृष्ठ १०६।

३. न्यास ५।३।११७; पृष्ठ १४१। द्रष्टव्य न्यास ४।१।१०६; पृष्ठ ६०१।

४ ङे. सुटोरिति वक्तव्ये ङे प्रथमयोरिति वचनं वैचित्र्यार्थम्। ७।१।२८; पृष्ठ ६३६।

इस विवेचना से **स्पष्ट** है कि न्याकार ने गणपाठ को अपाणिनीय बताने के लिए जो हेतु दिए है, वे हेत्वाभास-मात्र है। उन से गणपाठ का अपाणिनीयत्व कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता।

न्यासकार का वदतोव्याघात

इतना ही नही न्यासकार के ऐसे स्थल भी उपस्थित किए जा सकते है, जिन की उचित संगति पाणिनि को ही गणकार मानने पर लग सकती है। दूसरे शब्दों मे न्यासकार ने अस्पष्ट रूप से पाणिनि को ही गणकार स्वीकार किया है। यथा—

१–न्यासकार कहता है कि पारस्करादिगण (६।१।१५७) के आकृतिगण होने से उसी मे **प्रतिष्कशश्च कशेः** (६।१।१५२) से लेकर इस सुट् प्रकरण के अन्त तक के सभी सूत्रों का समावेश हो जाने पर भी इन सूत्रों का पृथक् पाठ पाणिनि ने केवल प्रपञ्चार्थ किया है।[1]

इस से स्पष्ट है कि पारस्करादिगण को न्यासकार पाणिनीय ही मानता है। अन्यथा वह सुट् प्रकरणस्थ सूत्रों के पृथक् निर्देश को प्रपञ्चार्थ न कह कर **अन्यो हि गणकारः, अन्यश्च सूत्रकारः** समाधान देता।

२–न्यासकार धातुपाठ को सूत्रकार पाणिनि की रचना मानता हुआ लिखता है–

न तस्य (आपिशलेः) पाणिनेरिव अस भुवीति गणे पाठः।[2]

अर्थात्—पाणिनि के धातुपाठ के समान आपिशलि के धातुपाठ मे **अस भुवि** पाठ नही था।

यदि धातुपाठ और सूत्रपाठ मे अनेक विषमताएं होने पर भी धातु-पाठ पाणिनि का माना जा सकता है[3] तो गणपाठ को पाणिनीय स्वीकार करने में क्या आपत्ति हो सकती है?

---

१. यदि तर्हि पारस्करप्रभृतिराकृतिगणः 'प्रतिष्कशश्च कशेः' इत्यारभ्य पूर्व सूत्रं न पठितव्यम्। तस्याप्यनेनैव संग्रहात्। सत्यमेतत्, प्रपञ्चार्थं तु पठितव्यम्। ६।१।१५७; पृष्ठ २६६। तुलना करो—'ते वै खल्वपि विधयः सुपरिगृहीता भवन्ति, येषां लक्षणं प्रपञ्चश्च। केवलं लक्षणं केवलः प्रपञ्चो वा न तथा कारकं भवति।' महाभाष्य ६।३।१५॥

२. न्यास १।३।२२, पृष्ठ २२६।

३. यह ध्यान रहे कि न्यासकार ने दो एक स्थानों पर धातुपाठ को अपाणिनीय

३—न्यासकार ने **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (१।३।२) सूत्रस्थ **उपदेशः शास्त्रवाक्यानि सूत्रपाठः खिलपाठश्च** इस काशिका वचन की व्याख्या करते हुए लिखा है—

खिलपाठो धातुपाठः प्रातिपदिकपाठश्च ।

जब यहां न्यासकार को सूत्रपाठ से पाणिनि का सूत्रपाठ ही निश्चित रूप से अभिप्रेत है तो धातुपाठ और प्रातिपदिकपाठ (=गणपाठ) भी पाणिनि का ही क्यों नही ? **उपदेशे ऽजनुनासिक इत्** सूत्र की रचना करते हुए आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है कि अनुनासिक अचों के उपदेश के लिए सूत्रपाठ के समान ही धातुपाठ तथा प्रातिपदिकपाठ (=गणपाठ) का भी प्रवचन पाणिनि द्वारा ही किया जाए ।

इससे स्पष्ट है कि न्यासकार के सभी वचन वदतोव्याघात दोष से पूर्ण हैं । अतः उन के द्वारा यह कदापि सिद्ध नहीं हो सकता कि आचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी से संबद्ध गणपाठ का निर्धारण उन से पूर्व किसी अन्य आचार्य द्वारा किया जा चुका था, अथवा अपने से पूर्व आचार्य द्वारा निर्धारित गणपाठ को ही तादात्म्येन अपनाकर पाणिनि ने अपने सूत्रों की रचना की थी ।

आई० एस० पावते की हेय कल्पना

ऐसी स्थिति में न्यासकार के उपर्युक्त तथा कतिपय अन्य वचनों के आधार पर आई० एस० पावते का यह निर्णय कि "अष्टाध्यायी के कर्त्ता ने गणपाठ और धातुपाठ दोनों को अपने पूर्व आचार्यो से प्राप्त किया"[1] युक्तिरहित होने से सर्वथा हेय है ।

इस विवेचना से सर्वथा स्पष्ट है कि "सूत्रकार पाणिनि ने ही अपने शास्त्र से सम्बद्ध गणपाठ का स्वयं प्रवचन किया था और उसका निर्धारण सूत्रपाठ पाठ से पूर्व ही हो गया था" यही सिद्धान्त युक्तियुक्त है ।

भी स्वीकार किया है । द्र० ७।४।३, पृष्ठ ८४०; ७।४।७५, पृष्ठ ८७३। न्यासकार का धातुपाठविषयक कथन भी वदतोव्याघात दोषयुक्त है । धातुपाठ के पाणिनीयत्व के लिए देखिए क्षीरतरङ्गिणी को भूमिका पृष्ठ ८ (रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्करण) तथा सं० व्या० शास्त्र का इतिहास भाग २, अ० २१ ।

1........The author of the अष्टाध्यायी received both the गणपाठ and धातुपाठ from his आचार्य's as उपदेश । दी स्ट्रक्चर आफ अष्टाध्यायी, पृष्ठ ६१ ।

गणनिर्धारण में प्राचीन गणकारों की अनुकृति

गणपाठ के प्रवक्ता की समस्या पर विचार करते हुए हमें इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखना चाहिए कि व्याकरण के नियमों का निर्धारण करने वाले वैयाकरणों को **प्रवक्ता** माना गया है, न कि **कर्त्ता**। इसीलिए **तेन प्रोक्तम्** (४।३।१०१) सूत्र के उदाहरण के रूप में **पाणिनीयम्, आपिशलम्** तथा '**काशकृत्स्नम्**' प्रयोग काशिकाकार द्वारा उपस्थित किये गये हैं। इसका अभिप्राय यह है कि इन वैयाकरणों ने परम्परा से चले आ रहे, भाषा-विषयक नियमों का अपनी दृष्टि से शब्दानुपूर्वी के थोड़े बहुत परिवर्तन तथा परिवर्धन के साथ उपदेश किया था, न कि जिस प्रकार कोई कवि अपनी श्लोक रचना में, प्रतिभा के बल पर अपनी नवीन कल्पनाओं, शब्दावलियों, चित्ताकर्षक अलंकारों तथा छन्दों का चामत्कारिक नवीन प्रदर्शन करता है, उस प्रकार कोई नवीन आविष्कार किया था। इसीलिये व्याकरण शास्त्र को **प्रोक्त** और काव्य आदि को **कृत** माना जाता है। वस्तुतः भाषा की गतिविधि का अनुसरण करता हुआ उसके शब्दों के साधुत्व असाधुत्व का निर्णयमात्र करने वाला वैयाकरण व्याकरण के नियमों की रचना में कोई मौलिक वस्तु उपस्थित ही क्या कर सकता है? **'प्रोक्त'** और **'कृत'** के उपर्युक्त भेद को दृष्टि में रखकर ही पाणिनि ने **तेन प्रोक्तम्** (४।३।१०१) तथा **कृते ग्रन्थे** (४।३।११६) इन दो सूत्रों की रचना की। पतञ्जलि ने भी क्रमशः **यत्तेन प्रोक्तं न च तेन कृतम्**[1] तथा **यत्तेन कृतं न च तेन प्रोक्तम्**[2] कह कर प्रोक्त और कृत का भेद स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है।

इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण के भी प्रोक्त होने के कारण, उसमें प्राचीन आचार्यों से विरासत में प्राप्त प्रचुर सामग्री की वर्तमानता स्वाभाविक ही नहीं आवश्यक भी है। यह दूसरी बात है कि संस्कृत भाषा की तात्कालिक विभिन्न गति-विधियों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ध्यान रख कर आचार्य पाणिनि ने प्राचीन नियमों में पर्याप्त परिवर्धन एवं संशोधन करते हुए, उसे सर्वथा नवीन रूप प्रदान किया।

इसलिये पाणिनीय व्याकरण में प्राचीन वैयाकरणों द्वारा निर्धारित परिवर्तित अथवा अपरिवर्तित कितनी सामग्री ली गयी और कितनी पाणिनि

---

१. महा० ४।३।१०१।। २. महा० ४।३।१०१

के द्वारा स्वयं निर्धारित है, यह कह सकना कठिन ही नहीं, अपितु असंभव भी है।[1] वह भी विशेषतः उस स्थिति में जब कि हमारे समस्त प्राचीन व्याकरणों का सर्वथा अभाव है।

हरदत्त के कथनानुसार[2] इतना तो स्पष्ट ही है कि पाणिनि ने अपने व्याकरण की रचना मे आपिशलि के व्याकरण का पर्याप्त उपयोग किया था। इसके अतिरिक्त **पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति, परिपन्थं च तिष्ठति** (४।४। ३५,३६) जैसे कुछ सूत्र उपस्थित किये जा सकते हैं, जिनमे प्राचीन आचार्यो की सूत्ररचना का स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखाई देता है।[3] इसी प्रकार गणपाठ के नन्द्यादि, ग्रहचादि, पचादि, भिदादि तथा सपत्न्यादि जैसे स्थलों के सूत्र निर्दिष्ट शब्दों तथा गणपठित शब्दों मे विद्यमान स्वरूपवैषम्य भी प्राचीन आचार्यो के शब्दानुशासन से किसी न किसी प्रकार प्रभावित होने का संकेत देते हैं। इस विषय मे विस्तार से पूर्व लिख चुके है।[4]

पूर्वतः प्राप्त गणपाठ मे किए गए परिवर्तन के प्रसंग मे ऋक्तन्त्र के **कौतस्कुतादि** गण के स्थान पर पाणिनि के लघु तथा नवीन नाम **कस्कादि**[5], अथर्व-प्रातिशाख्य के **बृहस्पत्यादि** गण के शब्दों का **वनस्पत्यादि** तथा **देवताद्वन्द्वे च** सूत्र मे पाणिनि के द्वारा किये गये वर्गीकरण[6], आपिशलि के 'सर्वादि' गण मे पठित 'द्वि' शब्द के पाठक्रम मे पाणिनि द्वारा 'सर्वादि' गण में किये गये परिवर्तन[7] तथा प्राचीनों के **रौढ्यादि** नाम के स्थान पर

---

१. द्र० It will be long before we understand, if indeed we ever come to do so, what and how much of it is पाणिनि's own in addition to the work of his grammatical predecessors दी वेदाज इन पाणिनि, पृष्ठ १।

२. कथं पुनरिदमाचार्येण पाणिनिना अवगतमेते साधवः इति ? आपिशलेन पूर्वव्याकरणेन..........। प० मं० भाग १, पृष्ठ ६।

३. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, (पृष्ठ ८३-८४)) पाद टिप्पण सं० ३।

४. द्र० पूर्व पृष्ठ ३५।

५. द्र० पूर्व पृष्ठ १६।

६. द्र० पूर्व पृष्ठ २२, २३।

७. द्र० पूर्व पृष्ठ २६।

पाणिनि द्वारा रखे गये **क्रौड्यादि**[1] नाम की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है

गणों के दो प्रकार

पाणिनीय गणपाठ मे दो प्रकार के गण उपलब्ध होते हैं—एक **आकृतिगण** तथा दूसरे **पठितगण**। यों तो अथर्व-प्रातिशाख्य[2] ऋक्तन्त्र[3], फिट्सूत्र[4] उणादिसूत्रों[5] मे भी आकृतिगण के दर्शन हो जाते हैं, परन्तु पठितगणों की उपलब्धि, अथर्वप्रातिशाख्य के सूत्रों[2] आपिशलि के सर्वादिगण-विषयक भर्तृहरि के कथन[6] के अतिरिक्त, पाणिनि-व्याकरण मे पहले अन्यत्र कहीं नहीं होती।

प्रायः सूत्रों मे गणों का निर्देश करने के लिये उन उन के प्रथम शब्द के साथ '**आदि**' अथवा '**प्रभृति**' पद का प्रयोग सूत्रकार ने किया है। कहीं कहीं गण के प्रथम शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग भी पाया जाता है[7], परन्तु जहां सूत्र में कोई गण अभिप्रेत है, वहां चाहे 'आदि' अथवा 'प्रभृति' पद का प्रयोग हो अथवा बहुवचनान्त का प्रयोग, उसका अभिप्राय ऐसे स्थलो में सर्वत्र 'आदि' ही होता है। इस 'आदि' शब्द का प्रयोग सामान्यतः **सामीप्य, व्यवस्था, प्रकार तथा अवयव** इन चार अर्थों मे विद्वानों ने स्वीकार किया है[8]। इन में से गण के निर्देश के लिये व्यवस्थावाची तथा प्रकारवाची 'आदि' शब्द का ही प्रयोग उपयुक्त जान पडता है। उसमे भी 'आदि' शब्द जब 'प्रकार' अर्थ को अभिव्यक्त करता हुआ किसी गण का निर्देशक बनता है तो वह निर्दिष्ट गण **आकृतिगण** माना जाता है और जब 'व्यवस्था' अर्थ की अभिव्यक्ति करता हुआ किसी गण का बोध कराता है, तो वह निर्दिष्ट गण आकृतिगण न होकर **पठितगण** माना जाता है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि जब

---

१. द्र० पूर्व पृष्ठ ३६,३७। २. द्र० पूर्व पृष्ठ २१।
३. द्र० पूर्व पृष्ठ १६। ४. द्र० पूर्व पृष्ठ २६!
५. द्र० पूर्व पृष्ठ २७, २८। ६. द्र० पूर्व पृष्ठ २६।
७. संभव है कि गण निर्देशन की ये तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ पाणिनि ने अपने पूर्वाचार्यों की तीन पद्धतियों के अनुकरण पर अपनाई हों।
८. सामीप्येऽथ व्यवस्थायां प्रकारेऽवयवे तथा। चतुर्ष्वर्थेषु मेधावी आदिशब्दं तु लक्षयेत्॥ कातन्त्र सन्धिसूत्र (८) त्रिलोचन टीका।

किसी 'आकृति'गण के निर्देश के लिये 'आदि' अथवा तदर्थक किसी शब्द का प्रयोग किया जाता है, तब वह 'आदि' अथवा तदर्थक शब्द प्रकारवाची होता है, परन्तु जब किसी 'पठित'गण के निर्देश के लिये 'आदि' अथवा उस अभिप्राय वाले किसी अन्य शब्द का प्रयोग किया जाता है, तब वह प्रकारवाचक न होकर व्यवस्थावाची होता है। पतंजलि ने 'आदि' शब्द के इस द्विविध वैशिष्ट्य को निम्न शब्दों मे उदाहरण के साथ स्पष्ट किया है—

अयमादिशब्दोऽस्त्येव व्यवस्थायां वर्तते। तद्यथा देवदत्तादीन् समुपविष्टानाह 'देवदत्तादय आनीयन्ताम्'। त उत्थाप्य आनीयन्ते। अस्ति च प्रकारे वर्तते। तद्यथा देवदत्तादय आढ्या अभिरूपा दर्शनीया पटुवन्तः। देवदत्तप्रकारा इति गम्यते।[1]

आकृति-गण

आकृतिगण की परिभाषा वैयाकणों ने निम्न प्रकार दर्शाई है—

१—पदमञ्जरीकार हरदत्त आकृतिगण की परिभाषा इस प्रकार लिखता है—

प्रयोगदर्शनेन आकृतिग्राह्यो गण आकृतिगणः।[2]

इसका अभिप्राय है कि प्रयोगों की समानता के आधार पर जिन गणों में शब्दों का सन्निवेश किया जाए, वह 'आकृति' गण होता है।

२—वर्धमान ने अपनी गणरत्नमहोदधि में कस्कादिगण की आकृति-गणता स्वीकार करते हुए 'आकृति'गण के स्वरूप को—

आकृतिगणश्चायं तेनापरिमितशब्दसमूहः। आकृत्या आकारेण लक्ष्यते स आकृतिगणः।[3]

इन शब्दों में और अधिक स्पष्ट किया है। तदनुसार वर्धमान आकृति-गण में अनन्त-शब्द-समूह का अन्तर्भाव मानता है। अर्थात् आकृतिगणों मे प्रयोग अथवा स्वरूप अथवा शब्द साधुत्व की परिस्थितियों की समानता को आधार बना कर, समान आकृतिता के आधार पर, गणपठित शब्दों के समान जितने भी शब्द प्राप्त हो सकें, उन सब का अन्तर्भाव तत्सम्बद्ध आकृतिगण में माना जाता है।

---

१ महा० १।३।१ ॥ २. प० मं० भाग १, पृष्ठ ३८०।

३. गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ ४३।

बालमनोरमाकार के शब्दों में इसी अभिप्राय को–

आकृत्या एवं जातीयकतया निर्णेतव्योऽयं गण इत्यर्थः। लोकप्रयोगानुसारेण एवं जातीयकाः शब्दा अस्मिन् गणे निवेशनीया इति यावत्।

इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है

आकृतिगणों में पठितशब्दों की उपलक्षणता

ऊपर लिखी गई परिभाषाओं से यह सर्वथा स्पष्ट है कि आकृतिगणों मे शब्दों की अनन्त परम्परा का समावेश सम्भव है, तथा उनका साकल्येन परिगणन कथमपि सम्भव नहीं है। इसीलिए गणपाठ के प्रवक्ता द्वारा आकृतिगणों मे उपलक्षण के रूप मे कतिपय शब्दों का ही पाठ किया जाता है। उन मे पठितगणों के समान शब्दों की पूरी गणना नही की गई है। संक्षेप मे आकृतिगण शब्दों का वह अपठित समूह है, जिसमे तद्गण सम्बन्धी सूत्र मे स्थान दिए गए विशिष्ट शब्द की प्रयोग रूप आकृति की समानता रखने वाले सभी शब्दों का समावेश माना जाता है।[1]

वस्तुतः पठितगणों और आकृतिगणों का भेद पूर्ण तथा अपूर्ण पाठ के आधार पर ही किया जा सकता है। आकृतिगण शब्द के स्थान पर यदि 'अपठितगण' शब्द का प्रयोग किया जाए तो अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाता है। पतञ्जलि की **श्रेण्यादयः पठ्यन्ते, कृतादिराकृतिगणः**[2] साधिकार उक्ति से हमारे पूर्व कथन की सर्वात्मना पुष्टि होती है। पतञ्जलि ने उक्त वाक्य में श्रेण्यादि को पठितगण कहा है और कृतादि को उसके विपरीत अपठित न कह कर उसके पर्याय अकृतिगण का नाम दिया है।

आकृतिगणों में व्याख्याकारों द्वारा प्रक्षेप

यतः पाणिनि ने आकृति गणों मे सारे शब्दों का पाठ नही किया था, अतः वृत्तिकारों और व्याख्याकारों द्वारा इनमे समय समय पर यथेष्ट शब्दों का प्रक्षेप होना रहा। इसका स्पष्ट संकेत कैयट[3] और हरदत्त[4] के कृतादिगण

१. अविहितलक्षणो मूर्धन्यः सुषामादिषु। महा० ८।३।९८॥
अविहित लक्षणो णत्वप्रतिषेधः क्षुभ्नादिषु। महा० ८।४।३९॥

२. महा० २।१।५९॥

३. कृतादिरित्यत्रादिशब्दः प्रकारवाची प्रयोगदर्शनाच्चोदाहरणस्थानीयाः कतिपये वृत्तिकारैः प्रदर्शिताः। महा० प्रदीप २।१।५९॥

४. आकृतिगणेऽप्युदाहरणरूपेण कतिपयान् पठति। प० मं० भाग १. पृष्ठ ३८०।

की आकृतिगणता स्वीकार करते हुए किया है। यही कारण है कि आज उपलब्ध गणपाठों मे आकृतिगणों में शब्दों का विस्तृत परिगणन प्राप्त होता है। **अयस्मयादि** (१।४।२०) तथा **स्नात्व्यादि** (७।१।४९) जैसे गण, जिनमें छान्दस होने के कारण सुगमता से शब्द नहीं भरे जा सकते थे, उपर्युक्त धारणा की सत्यता की प्रतीक रूप में देखे जासकते हैं। हां, **ब्राह्मणादि** (५।१।१२४) तथा **पचादि** (३।१।१३४) जैसे कतिपय आकृतिगण ऐसे अवश्य हैं, जिनमें कुछ शब्दों का पाठ स्वयं गणकार ने किया होगा, ऐसी सम्भावना की जा सकती है, । क्योंकि उन विशिष्ट शब्दों के पाठ को व्याख्याकारों ने **बाधकबाधनार्थ** आदि विशेष प्रयोजन उपस्थित करते हुए प्रायः अनिवार्य बताया है और गणकार द्वारा ही इन शब्दों का पाठ किया गया है, ऐसा स्वीकार किया है। अन्यथा इन्हें वह प्रामाणिकता न दी जाती, जो दी गई है। कहीं कहीं सूत्रों से अनुपपन्न किसी शब्द विशेष की सिद्धि के लिए कात्यायन तथा पतञ्जलि ने उस शब्द का, उसकी स्थिति के अनुसार किसी आकृतिगण मे अन्तर्भाव माना है। ऐसे स्थलों मे **पाठः करिष्यते**[1] का अभिप्राय 'पाठ किया जायगा' न होकर समावेश अथवा अन्तर्भावमात्र समझना चाहिए।

आकृतिगणों का उपर्युक्त अतीव व्यापक स्वरूप स्वीकार कर लेने पर पाणिनि के अनेक आकृतिगणों मे, तत्प्रकरणस्थ अनेक सूत्रों का कार्य अथवा प्रयोजन पूरा हो जाता है। इसलिए पणिनि के अनेक सूत्रों के विषय मे यह पूछा जा सकता है कि उन्हें अष्टाध्यायी मे स्थान क्यों दिया गया। यथा—

१–**इन्द्रजननादि** (४।३।८८) आकृतिगण होने से उसमें **शिशुक्रन्द** और **यमसभ** शब्दों का समावेश हो सकता था, फिर सूत्र मे इन शब्दों को क्यों स्थान दिया गया ?[2]

२–**देवपथादिगण** (५।३।१००) की आकृतिगणता मे ही **लुम्मनुष्ये** (५।३।९८) तथा **जीविकार्थे चापण्ये** (५।३।९९) सूत्रों का प्रयोजन पूर्ण होजाने पर भी सूत्ररूप में इन्हें क्यों पढ़ा गया ?

३–**पारस्करादि** (६।१।१५७) और **क्षुभ्नादि** (८।४।३९) गणों को आकृतिगण मानने के कारण इन प्रकरणों के बहुत से सूत्रों के कार्य पूर्ण हो जाने पर भी वे वे सूत्र क्यों बनाए गए ?

---

१. द्र० महा० ८। २। १२॥

२. शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः। पा० ४। ३। ८८॥

इन प्रश्नों का तथा इस प्रकार के अन्य प्रश्नों का उत्तर व्याख्याकारों ने **प्रपञ्चार्थ** अथवा दूसरे शब्दों में **स्पष्टीकरणार्थ** ही दिया है।[1]

हमारा मन्तव्य

हमारा विचार है कि आकृतिगणों मे मूलतः प्रायः ऐसे ही निष्पन्न शब्दों का पाठ किया गया था, जिनकी सिद्धि व्याकरण के सूत्रों द्वारा नही हो सकती थी। कात्यायन ने किसी किसी आकृतिगण के विषय मे **अविहित-लक्षणो णत्वप्रतिषेधः क्षुभ्नादिषु**[2] जैसी वार्तिकों द्वारा इस स्वभाव को अभिव्यक्त किया है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इन आकृति-गणों मे प्रकृति-प्रत्यय के विभाग को प्रधानता न देते हुए कथमपि उनके साधुत्व का प्रतिपादन किया गया है। इसीलिए आचार्य पाणिनि ने शब्दों के प्रकृति-प्रत्यय-विभाग को प्रधानता देते हुए यथासम्भव उपरिनिर्दिष्ट अनेक स्थलों पर तत्तत्प्रकरणस्थ आकृतिगणों मे उन उन शब्दों का समावेश करना नही चाहा और प्रकृति-प्रत्यय-विभाग के स्पष्टीकरण के लिए उन उन प्रकरणों मे अनेक सूत्रों की रचना को सादर अपनाया।

आकृतिगण तथा उत्तरवर्ती वैयाकरण

पाणिनि के पश्चात् आनेवाली वैयाकरणों की परम्परा ने उत्तरोत्तर इन आकृति गणों मे शब्दों की संख्या तो बढ़ाई ही, साथ ही पाणिनि के बहुत से पठित-गणों को भी आकृतिगण ही मान लिया।[3] हेमचन्द्र और वर्धमान ने तो जहां तक संभव हो सका, शब्दों के विस्तृत समूह को तत्संबद्ध आकृतिगणों मे उपस्थित करके अन्य अपठित शब्दों की सिद्धि के लिए उन-उन गणों की आकृतिगणता स्वीकार की। ऐसे आकृतिगणों के उदाह-रण के लिए वर्धमान के **तारकादि** तथा **पृषोदरादि** जैसे गणों को उपस्थित किया जा सकता है, जिनमे विशाल शब्द समूह उपसंख्यात है।

---

१. महाभाष्यकार ने ऐसे स्थलो के विषय में लिखा है—'उदाहरणभूयस्त्वात्। ते वै खल्वपि विधयः सुपरिगृहीता भवन्ति। येषा लक्षणं प्रपञ्चश्च। केवलं लक्षणं केवलः प्रपञ्चो वा न तथा कारकं भवति।''''''सर्ववेद पारिषदं हीदं शास्त्रम्। तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्। महा० ६। ३। १४॥ तथा द्रष्टव्य—इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम्। महाभारत आदि० १। ४९॥

२. महा० ८। ४। ३९॥

३. द्र० श्रेण्यादिगण, हैमबृहद्वृत्ति ३।१।१०३॥ गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ ८५।

आकृतिगणता के द्योतक शब्द

आकृतिगणों की आकृतिगणता के द्योतन के लिए वैयाकरणों ने अनेक प्रकार वर्ते है । यथा—

१—**चकार-निर्देश**—पाणिनि ने कहीं कहीं आकृतिगणता के द्योतन के लिए सूत्रपाठ में आदि पद के साथ साथ अनुक्त समुच्चयार्थक **च** शब्द का प्रयोग किया है । यथा—

प्रवृद्धादीनां च (६।२।१४७) । **सुषामादिषु च** (८।३।९८) ।

प्रथम सूत्र पर न्यासकार लिखता है—

आकृतिगणश्च प्रवृद्धादिर्द्रष्टव्यः । कुत एतत् ? आकृतिगणतां तस्य-सूचयितुं अनुक्तसमुच्चयार्थस्य चकारस्य इह कृतत्वात् ।[1]

इसी प्रकार हरदत्त दूसरे सूत्र पर लिखता है—

चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थ आकृतिगणतां तस्य सूचयति ।[2]

२—**वृत्करण का अभाव**—पाणिनीय सम्प्रदाय मे सर्वत्र पठितगणों के अन्त में समाप्त्यर्थक पारिभाषिक **वृत्** शब्द पढ़ने की व्यवस्था थी । अतः जिन गणों के अन्त मे **वृत्** शब्द का पाठ नहीं है, उन्हें आकृतिगण माना जाता है । इसीलिए **पात्रे समितादि** गण की आकृतिगणता को द्योतित करते हुए काशिकाकार ने स्पष्ट लिखा है—

अवृत्करणाद् आकृतिगणोऽयम् ।[3] २।१।४८ ॥

इस वाक्य का दूसरा पाठ **अव्यक्तत्वाद् आकृतिगणोऽयम्** मिलता है, परन्तु यह पाठ निरर्थक तथा असंगत होने से सर्वथा अनुपयुक्त है ।

३—**बहुवचन-निर्देश**—शाकटायन तथा हैमव्याकरण के जिन जिन सूत्रों मे गणनिर्देश के लिए बहुवचन का प्रयोग किया है,[4] उन उन स्थानों पर शाकटायन-व्याकरण की अमोघावृत्ति तथा हैमव्याकरण की बृहद्वृत्ति में बहुवचन-निर्देश को आकृतिगणता का सूचक माना है । इसलिए ऐसे स्थानों पर—

---

१. न्यास ६ । २ । १४७, पृष्ठ ४०३ ॥

२. प० मं० भाग १, पृष्ठ १०१० ॥

३. तुलना करो—न्याय्यविकरणास्तु भ्वादयोऽपरिसमाप्ता एव, अवृत्करणात् । धातुप्रदीप, पृष्ठ ७५ ।

४. इन व्याकरणों में बहुवचन के साथ आदि पद का प्रयोग भी किया गया है ।

बहुवचनमस्याऽऽकृतिगणत्वं द्योतयति ।[1]

बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ।[2]

वचन प्रायः मिलते है ।

४—श्रीभोज के सरस्वतीकण्ठाभरण मे पठितगणों के सभी शब्दों का पाठ सूत्रों मे ही कर दिया है, इसलिए उसमे आकृतिगणों की आकृतिगणता के द्योतन के लिए गण अन्त मे 'आदि' शब्द का ही निर्देश किया गया है ।

आकृतिगण शैली की प्रथम आविष्कृति

व्याकरण-मनीषी सूत्रकारों के मस्तिष्क मे गणशैली पहले पहल सम्भवतः आकृतिगणता के रूप मे ही प्रादुर्भूत हुई थी । इसके संकेत पाणिनि से पूर्ववर्ती व्याकरण के विभिन्न ग्रन्थों मे मिलने वाली आकृतिगणों की प्रचुरता से प्राप्त किए जा सकते हैं । भाषा के भयंकर प्रवाह मे पड़े हुए शब्दों के नित्य परिवर्तमान, विविध एवं अज्ञेय रूपों की सिद्धि के लिए व्याकुल एवं असमर्थ वैयाकरणों के मस्तिष्क मे पठित-गण-पद्धति की अपेक्षा आकृतिगण-पद्धति रूप एकमात्र उपाय का प्रथम प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक ही था ।

पाणिनीय-तन्त्र में आकृतिगणता का उपयोग

आकृतिगणों की इस व्यापक पद्धति का ही सहारा लेकर पाणिनि ने अनेक प्रकरणों में अनन्त शब्दों को संकेतित करने का प्रयत्न किया है । यथा—

१–**अव्ययों तथा निपातों का निर्देश**–वैदिक एवं लौकिक संस्कृत वाङ्मय मे बिखरे हुए अनन्त अव्ययों और निपातों को **स्वरादि** तथा **चादि** गणों की आकृतिगणता के आधार पर **स्वरादिनिपातमव्ययम्** (१।१।३७) तथा **चादयोऽसत्त्वे** (१।४।५७) जैसे दो छोटे छोटे सूत्रों द्वारा प्रदर्शित किया गया ।

२–**समासों का निर्देश**–व्याकरण के सूत्रों से सिद्ध न हो सकने वाले समासयुक्त शब्दों की परम्परा को **पात्रेसमितादि**, **मयूरव्यंसकादि** तथा **राजदन्तादि** गणों के साहाय्य मे **पात्रेसमितादयश्च** (२।१।४८)

१. अमोघा वृत्ति १ । १ । ८० इत्यादि ।

२. बृहद्वृत्ति १ । १ । १ । ३०, ३१ इत्यादि ।

मयूरव्यंसकादयश्च (२।१।७२) तथा **राजदन्तादिषु परम्** (२।२।३१) सूत्रों में साधु स्वीकार किया गया।

३–**लिङ्गों का निर्देश**–अर्थ वैशिष्ट्य के आधार पर पुंलिङ्ग नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होनेवाली शब्दों की सुविस्तृतत परम्परा को **अर्धर्चादि** गण की सहायता से केवल **अर्धर्चाः पुंसि च** (२।४।३१) इस एक छोटे से सूत्र द्वारा अनुशासित किया गया।

४–**तद्धितान्तों का निर्देश**–अनन्त शब्दों के तद्धित प्रत्ययान्त स्वरूपों को **शिवादि** तथा **शुभ्रादि** गणों की कल्पना करके **शिवादिभ्योऽण्** (४।१।११२), तथा **शुभ्रादिभ्यश्च** (११।१२३) सूत्रों द्वारा दर्शाया गया।

५–**स्वरों का निर्देश**–असंख्य शब्दों में व्याकरण की दृष्टि से अप्राप्त, परन्तु अभीष्ट आद्युदात्त तथा अन्तोदात्त स्वर की स्थिति को क्रमशः **उञ्छादि** तथा **वृषादि** गणों की आकृतिगणता का आश्रय लेकर **उञ्छादीनां च** (६।१।१५६) तथा **वृषादीनां च** (६।१।१९९) इन दो सूत्रों द्वारा निर्दशित किया गया।

६–**षत्वसिद्धि, णत्वाभाव का निर्देश**–जिन शब्दों मे किसी पाणिनीय सूत्र द्वारा षत्व की सिद्धि अथवा णत्व का अभाव व्याकृत नहीं होता था, उन शब्दों की पूरी सृष्टि को क्रमशः **सुषामादि** तथा **क्षुभ्नादि** गणों का सहारा लेकर **सुषामादिषु च** (८।३।९८) तथा **क्षुभ्नादिषु च** (८।४।३९) इन दो सूत्रों द्वारा साधु शब्दों की श्रेणी मे उपस्थित किया गया।

७–**सर्वथा अव्याकृत शब्दों का निर्देश**–अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों से सिद्ध न हो सकने वाले शिष्टप्रयुक्त साधु शब्दों के महान् प्रवाह को **पृषोदरादि** गण की प्रकल्पना करके **पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्** (६।३।१०८) इस एक सूत्र से ही प्रदर्शित एवं साधु प्रमाणित कर सकने मे आचार्य पाणिनि समर्थ हो सके।

आकृतिगणात्मकशैली पर आक्षेप

कुछ आलोचकों ने आकृतिगणात्मक शैली को अपनाने वाले वैयाकरणों के शब्दानुशासनों पर आक्षेप करते हुए "भाषा पर पूरा अधिकार न होने के कारण अभिप्रेत शब्दों की पूरी सूची उपस्थित न कर सकने वाले वैयाकरण ही आकृतिगणों की शरण लेते है" कह कर दोषपूर्ण बताया है।

वास्तविकता इस से सर्वथा विपरीत है, व्याकरण चाहे कितना ही विस्तृत क्यों न हो वह प्रतिपद निर्देश द्वारा शब्दों के अन्वाख्यान में सर्वथा असमर्थ होता है। इसलिए व्याकरण की अपूर्णता को दूर करने अथवा दूसरे शब्दों में संक्षिप्त सूत्रों के आधार पर एक सजीव तथा अतिविशाल वाङ्मय वाली भाषा के सम्पूर्ण क्षेत्र को स्वायत्त कर सकने अथवा अध्ययन कर सकने का, गणपाठ की आकृतिगणात्मक शैली को अपनाने के अतिरिक्त अन्य कोई सरल, व्यापक एवं उपादेय मार्ग ही नही हो सकता। इतना ही नहीं, जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है[1] कि पाणिनि ने तो यथासंभव आकृतिगणों के क्षेत्र से शब्दों को दूर रख कर उनके प्रकृति-प्रत्यय-विभाग के प्रदर्शन का पूरा पूरा प्रयास किया है। इसलिए पाणिनि के व्याकरण में यत्र तत्र स्वीकृत आकृतिगणता के लिए उपर्युक्त आलोचना का कोई मूल्य नहीं है। हां, हेमचन्द्र और वर्धमान की आकृतिगणात्मक पद्धति के लिए, जिनमें अधिक से अधिक गणों को आकृतिगणता का रूप दिया गया है, उक्त आलोचना कथंचित् ठीक हो सकती है।

पठितगण

आकृतिगणों के विपरीत **पठितगण** उन सूत्र संकेतित शब्दसमूहों को कहा जाता है, जिनमे शब्दों की परिपूर्ण सूची स्वयं गणकार द्वारा उपस्थित कर दी जाती है। यथा–**सर्वादि, स्वस्रादि** तथा **कथादि** आदि गण। इस प्रकार पठितगणों में स्वयं गणकार अथवा सूत्रकार द्वारा अपेक्षित शब्दों को व्यवस्थित कर देने के कारण इन में अन्य शब्दों का समावेश नही किया जा सकता। इसी कारण इन पठितगणों को **नियतगण** भी कहा जाता है।

इन पठितगणों का निर्देश भी आकृतिगणों के समान गण के प्रथम शब्द के साथ **आदि** अथवा **प्रभृति** शब्दों का अथवा बहुवचन का प्रयोग करके किया जाता है।

समाप्तिबोधार्थ 'वृत्'करण

पठितगणों की समाप्ति की सूचना के लिए पाणिनीय सम्प्रदाय के गण-पाठ में उन उन गणों के अन्तिम शब्द के पश्चात् समाप्त्यर्थक परिभाषिक

१. द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ ६०।

वृत् शब्द का प्रयोग किया गया था। इस 'वृत्' शब्द का अर्थ व्याख्याकारों ने **वृत्तः समाप्तः**[1] आदि किया है। इस पारिभाषिक 'वृत्' शब्द का पाणिनीय धातुपाठ में पठितगणों की समाप्ति का द्योतन कराने के लिए उपयोग किया गया है।[2] भ्वादिगण की समाप्ति पर मिलने वाले वृत्करण को **यजादि** अवान्तर गण से संबद्ध करके उसे पठितगण माना जाता है, तथा 'भ्वादि' गण से उसका संबन्ध न होने के कारण भ्वादि को आकृतिगण कहा जाता है।[3] दुर्भाग्य की बात है कि गणपाठ मे पठितगणत्व के सूचक वृत्करण की प्रक्रिया सम्प्रति पठितगणों में सर्वत्र दिखाई नही देती। काशिकाकार ने केवल **संकलादि, सुवास्त्वादि** जैसे दो चार गणों में तथा गणपाठ के हस्तलेख संख्या २[4] में **तिकादि** तथा **यौधेयादि** गणों में 'वृत्' शब्द का प्रयोग मिलता है। नागेश ने लघुशब्देन्दुशेखर में कुछ गणों के अन्त मे 'वृत्' करण की प्रक्रिया को दर्शाने का प्रयास किया है। इसकी सूचना हमने यथास्थान गणपाठ की आलोचनात्मक टिप्पणी मे दी है।[5] व्याकरण-सिद्धान्त-सुधानिधिकार ने **सर्वादि** गण में 'वृत्' की सत्ता का निर्देश करके उसके पठितगणत्व की घोषणा की है। काशिकाकार ने **पात्रेसमितादि गण** मे वृत्करण के न होने के कारण ही उसको आकृतिगण माना है।[6] इससे यह

१. द्र० व्या० सि० सुधानिधि १। १। २५; धातुवृत्ति, पृष्ठ ३५४।

२. पाणिनि से प्राचीन काशकृत्स्न व्याकरण की कन्नड टीका में वृत्करण नहीं मिलता। उत्तरवर्ती वैयाकरणों के धातुपाठों में भी 'वृत्' का प्रयोग स्वल्प ही मिलता है। चन्द्रगोमी के मुद्रित धातुपाठ मे केवल भ्वादि के अन्त में यजादि की समाप्ति के लिए वृत्करण उपलब्ध होता है। जैनेन्द्र व्याकरण के शब्दार्णव (दाक्षिणात्य) शाखा के धातुपाठ में केवल अवान्तर गणों की समाप्ति के लिए 'वृत्' शब्द का निर्देश पाया जाता है। यही अवस्था कातन्त्र तथा हैमधातुपाठ की भी है। केवल शाकटायन धातुपाठ में प्रधान गणों के अन्त में वृत्करण उपलब्ध होता है।

३. वृदिति यजादिपरिसमाप्तिः। न्याय्यविकरणास्तु भ्वादयोऽपरिसमाप्ता एव, अवृत्करणत्वात्। धातुप्रदीप, पृष्ठ ७५।

४. हमारे द्वारा गणपाठ के आदर्श संस्करण के सम्पादनार्थ संगृहीत हस्तलेखों में विशिष्ट हस्तलेख। ५. द्र० हमारे गणपाठ के आदर्शसंस्करण के अन्त में।

६. अवृत्करणादाकृतिगणोऽयम्। काशिका २। १। ४८॥ इस के पाठान्तर के लिए देखो इसी ग्रन्थ का पृष्ठ ६१ पङ्क्ति १६।

स्पष्ट है कि 'वृत्' शब्द का निर्देश ही किसी गण को पठितगण बनाता है और उसका अभाव ही आकृतिगण बना देता है।

पाणिनि के उत्तरवर्ती सूत्रकारों की पीढ़ी ने सम्भवतः पठितगणत्व के द्योतक वृत्करण की प्रक्रिया को उपेक्षित कर दिया, क्योंकि उत्तरवर्ती किसी वैयाकरण के गणपाठ मे कही पर भी वृत्करण उपलब्ध नहीं होता।

गणपाठ का द्विविध पाठ

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने गौरादिगण के विषय मे लिखा है—

एवं तर्हि गौरादिषु पाठादीकारो भविष्यति। गौरादिषु न पठ्यते। नहि किञ्चित् तुन्नन्तं गौरादिषु पठ्यते। ७।१।९६॥

अर्थात्–[क्रोष्टु शब्द के] गौरादि गण में पाठ होने से ईकार हो जाएगा। गौरादि गण मे नहीं पढ़ा जाता। कोई भी तुन्नन्त गौरादि गण मे नही पढ़ा जाता।

पतञ्जलि के इस परस्पर विरुद्ध वाक्य की संगति दर्शाते हुए कैयट ने लिखा है—

गौरादिपाठादिति–पृथिवी, क्रोष्टु, पिप्पल्यादयश्चेति छेदाध्यायिनः पठन्ति। नहि किञ्चिदिति–संहिताध्यायिनो न पठन्ति। महा० प्रदीप ७।१।९६॥

अर्थात्–गौरादि गण मे **पृथिवी क्रोष्टु पिप्पल्यादयश्च ऐसा छेदाध्यायी** पढ़ते है और **संहिताध्यायी** नही पढ़ते।

कैयट ने इस व्याख्या मे गणपाठ के **संहिताध्यायी** और **छेदाध्यायी** द्विविध आचार्यो का निर्देश किया है। इससे स्पष्ट है कि कैयट के समय तक गणपाठ के छेदात्मक और संहितात्मक अर्थात् बृहत्=दीर्घ=वृद्ध तथा लघु दो प्रकार के पाठ विद्यमान थे। इन द्विविध पाठों के विषय में कैयट के उक्त निर्देश के अतिरिक्त और कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता। हां, संस्कृत वाङ्मय में अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं जिनके वृद्ध और लघु दो प्रकार के पाठ मिलते हैं। यथा–निघण्टु, निरुक्त, भरत नाट्यशास्त्र, सुश्रुत, चाणक्य-नीति आदि। पाणिनि अष्टाध्यायी के भी वृद्ध और लघु दो पाठ हैं। काशिकावृत्ति वृद्ध पाठ पर है और कात्यायन के वार्तिक तथा महाभाष्य लघुपाठ का आश्रयण करते हैं।[1]

१. द्र० सं० शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १५१ (प्र० सं०)।

कतिपय गणों में निष्पन्न शब्दों का पाठ

पाणिनि तथा अन्य सभी व्याकरणों के कतिपय गणों में निष्पन्न शब्दों का पाठ मिलता है। यह निष्पन्न शब्दों का पाठ भी दो प्रकार का है। एक सूत्रों में प्रकृतिमात्र का पाठ करके गणपाठ में निष्पन्न शब्दों का पाठ करना। यथा–**नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः** (३।१।१३४) सूत्रसंबद्ध **नन्द्यादि ग्रहयादि** और **पचादि** आदि गणों में **नन्दनः ग्राही पचः** आदि प्रकृतिप्रत्यय-निष्पन्न शब्दों का पाठ। दूसरा सूत्रों मे ही निष्पन्न शब्दों का निर्देश करके गणपाठ में भी निष्पन्न शब्दों का ही पाठ करना यथा।–**तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च** (२।१।१७) **पात्रेसमितादयश्च** (२।१।४८) **मयूरव्यंसकादयश्च** (२।१।७२) आदि सूत्र संबद्ध गणों मे **तिष्ठद्गु, पात्रेसमितः, मयूरव्यंसकः** आदि समस्त निष्पन्न शब्दों का पाठ। द्वितीय प्रकार के निष्पन्न शब्दों के पाठ की शैली का **निपातन** शब्द से भी व्यवहार होता है। निपातन का अभिप्राय भी यही होता है कि जो शब्द जिस रूप में वर्तमान हो उसको उसी रूप में पढ़कर साधु मान लेना। यह निपातन की शैली गणपाठ के अतिरिक्त अष्टाध्यायी के अनेक सूत्रों मे भी प्रतिष्ठित है।[1]

निपातन शैली पर आक्षेप और उसका समाधान

यहां यह प्रश्न किया जासकता है कि सम्भवतः वैयाकरणों मे प्रथम इन्द्र, जिसने पतञ्जलि के कथनानुसार शब्दों का प्रतिपद पाठ किया था[2] तथा अन्वेषकों की धारणानुसार इन्द्र के अनुयायी प्रातिशाख्यकारों[3] ने भले ही शब्दों की प्रकृति-प्रत्यय विभाग की ओर विशेष ध्यान न देते हुए उनके निष्पन्न रूपों को ही अपने व्याकरण में स्थान दिया हो, परन्तु **लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्**[4] के अपूर्व आदर्श पर चलने वाले महान् सूक्ष्मेक्षिक पाणिनि जैसे सूत्रशैली के निष्णात आचार्य के व्याकरण मे निपातन शैली ने क्यों स्थान प्राप्त किया।

---

१. 'छन्दसि निष्टर्क्यदेवहूय' (३।१।१२३) इत्यादि वैदिक, 'ऋत्विग्दधृक्स्रग्' (३।२।५९) इत्यादि लौकिक पद साधुत्वनिदर्शक सूत्र।

२. महा० नवा० पृष्ठ ५०।

३. द्र० आन दी ऐन्द्रस्कूल आफ संस्कृत ग्रामेरियन्स, पृष्ठ १२ तथा उससे आगे।

४. महा० नवा० पृष्ठ ७१।

इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें उन शब्दों के स्वरूप पर ध्यान देना होगा, जिनके लिए निपातन शैली का आश्रयण किया गया है। **सुषामादि** तथा **क्षुभ्नादि** गणों के विषय में कात्यायन का **अविहितलक्षणो मूर्धन्यः सुषामादिषु**[1] तथा **अविहितलक्षणो णत्वप्रतिषेधः क्षुभ्नादिषु**[2] कथन, इसी प्रकार **पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्** (६। ३। १०८) सूत्र की व्याख्या में **पृषोदर** आदि निपातित शब्दों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए पतञ्जलि का **येषु लोपागमवर्णविकाराः श्रूयन्ते न चोच्यन्ते**[3] वक्तव्य निपातित शब्दों के स्वरूप को भली भांति स्पष्ट कर देता है। इसी बात को काशिकाकार के शब्दों मे अधिक स्पष्ट करके यों भी कहा जासकता है--

यदिह लक्षणेनानुपन्नं तत्सर्वं निपातनात् सिद्धम्।[4]

इस लक्षण के अनुसार जिन कतिपय शब्दों मे लोप, आगम, वर्णविकार आदि कुछ ऐसे कार्य दिखाई पड़ते हैं, जिनकी प्राप्ति सूत्रकार के किसी सूत्र द्वारा नही होती, परन्तु होते हैं वे शिष्ट-प्रयुक्त। ऐसे शब्दों की साधुता को प्रमाणित करने के लिए उन्हें उनके स्वरूप मे ही उपस्थित किया जाता है।

निपातन शैली के मर्मज्ञ किसी विद्वान् ने निपातन की तीन विशेषताओं को निम्न श्लोक मे उपस्थित किया है--

अप्राप्तेः प्रापणं चापि प्राप्तेर्वारणमेव वा।
अधिकार्थविवक्षा च त्रयमेतन्निपातनम्॥

अर्थात्-अप्राप्त कार्य की प्राप्ति, प्राप्ति का प्रतिषेध और अधिक अर्थ (विशेषार्थ) को विवक्षा इन तीन कार्यों के लिए निपातन किया जाता है।

भर्तृहरि ने निपातन का स्वरूप इस प्रकार व्यक्त किया है—

धातुसाधनकालानां प्राप्त्यर्थं नियमस्य च।
अनुबन्धविकाराणां रूढ्यर्थे च निपातनम्॥ वाक्यपदीय।

संक्षेप मे यह कहा जासकता है कि उन रूढि शब्दों के लिए, जिनमें प्रकृति और प्रत्यय को देखकर अर्थ की कल्पना नहीं की जासकती, अपितु उनके अर्थ को जान कर ही प्रकृति-प्रत्यय की प्रकल्पना की जाती है, तथा जिनकी प्रारम्भिक उत्पत्ति कब, कैसे, तथा किस रूप में हुई, एवं भाषा-प्रवाह के

१, महा० ८। ३। ६८॥ २. महा० ८। ४। ३६॥
३. महा० ६। ६। १०८॥ ४. काशिका ५। १। ५६॥

प्रचण्ड थपेड़ों ने उनके प्रारम्भिक रूप में कितना परिवर्तन कर दिया, यह सब कुछ ज्ञात नहीं, निपातन की पद्धति के अतिरिक्त दूसरी कोई सम्भव पद्धति ही नहीं थी, जिसे पाणिनि आदि वैयाकरण अपनाते।

गणों में शब्दों का निर्विभक्तिक पाठ

जिस प्रकार धातुपाठ मे धातुओं को उनके वास्तविक स्वरूप के निदर्शन के लिए निर्विभक्तिक पढ़ा गया है, उसी प्रकार गणपाठ मे भी शब्दों के मूल स्वरूप के ज्ञापन के लिए उनका निर्विभक्तिक मूलरूप अर्थात् प्रातिपदिक अवस्था मे वर्त्तमान स्वरूप को ही अपनाया गया। इस कारण गणपाठ का दूसरा नाम प्रातिपदिक पाठ भी है।[1] इस प्रातिपदिक अवस्था को ही ध्यान मे रखकर पतञ्जलि ने **प्रातिपदिकान्यपि शुद्धानि पठ्यन्ते**[2] शब्दों द्वारा गणपाठ मे प्रातिपदिक पाठ का संकेत किया है।

क्वचित् सविभक्तिक पाठ

गणपाठ में कहीं कहीं किन्ही शब्दों का सविभक्तिक पाठ भी उपलब्ध होता है। यथा **उरःप्रभृति** (५।४।१४१) गण में **पुमान्, अनड्वान्, पयः, नौः, लक्ष्मीः** इन शब्दों का एक वचनान्त रूप में पाठ मिलता है। इस पाठ-वैशम्य ने व्याख्याकारों को सविभक्तिकनिर्देश का प्रयोजन बताने के लिए विवशकर दिया। काशिकाकार ने उक्त शब्दों के सविभक्तिक पाठ का प्रयोजन इस प्रकार दर्शाया है—

पुमान् अनड्वान् पयो नौर्लक्ष्मीरिति विभक्त्यन्ताः, न प्रातिपदिकानि। तत्रेदं प्रयोजनम्, एकवचनान्तानामेव ग्रहणमिह विज्ञायेत, द्विवचन-बहुवचनान्तानां मा भूदिति। तत्र शेषाद् विभाषा (५।४।१५४) इति विकल्प एव भवति—द्विपुमान्, द्विपुंस्काः; बहुपुमान्, बहुपुंस्काः। कशिका ५।१।१५१॥

अर्थात्—पुमान् आदि शब्दों के एकवचनान्त पाठ का यह प्रयोजन है कि इस सूत्र में इन शब्दों के एकवचनान्त से निष्पन्न बहुव्रीहि समास में ही नित्य कप् हो। द्विवचनान्त तथा बहुवचनान्त से निष्पन्न बहुव्रीहि में **शेषाद्**

---

१. खिलपाठो धातुपाठः चकारात् प्रातिपदिकपाठश्च। न्यास १।३।२॥

२. महा० नवा०, पृष्ठ ७६।

विभाषा (५ । १ । १५८) सूत्र से विकल्प से कप् हो। यथा—**द्विपुमान्, द्विपुंस्कः; बहुपुमान्, बहुपुंस्कः ।**

पुमान् आदि शब्दों के सविभक्तिक पाठ का यही प्रयोजन चन्द्रगोमी तथा वर्धमान प्रभृति व्याख्याकारों ने भी दर्शाया है।[1]

क्वचिद् वाक्य-प्रयोग

पाणिनीय गणपाठ के **प्रवृद्धादि** गण (६ । २ । १४७) मे—

प्रवृद्धं यानम् । प्रवृद्धो वृषलः । प्रयुक्ताः सक्तवः । आकर्षेऽवहितः । अवहितो भोगेषु ।

आदि वाक्यों का पाठ दृष्टिगोचर होता है। ये विशिष्ट प्रयोग भी व्याख्याकारोंको उनके विशिष्ट प्रयोजन को व्यक्त करने के लिए विवश करते हैं। काशिकाकार ने इन वाक्य-प्रयोगों का प्रयोजन इस प्रकार दर्शाया है—

यानादीनामत्र गणे पाठः प्रायोवृत्तिप्रदर्शनार्थो न विषयनियमार्थः । यानादिभ्योऽन्यत्रापि तेषामन्तोदात्तत्वं भवत्येव । विषयनियमार्थ एवेत्येके ।

अर्थात् 'यानम्' आदि का इस गण मे पाठ उन उन शब्दों की प्रायिक वृत्ति के निदर्शन के लिए हैं, विषय के नियमन के लिए नहीं, क्योंकि यानादि विषयों से अन्यत्र भी प्रवृद्ध आदि शब्दों का अन्तोदात्तत्व देखा जाता है। विषयनिमार्थ ही [यानादि का] पाठ है, ऐसा कई व्याख्याकारों का मत है।

भट्ट यज्ञेश्वर ने अपनी गणरत्नावली के मूल पाठ (श्लोक) में केवल **प्रवृद्ध प्रयुक्त** आदि शब्दों का ही निर्देश करके व्याख्या में काशिकाकार के मत से **प्रवृद्धं यानम्** इत्यादि का पाठ माना है और उसका काशिकाकारोक्त प्रयोजन ही लिखा है।[2]

---

१. चान्द्रवृत्ति ४ । ४ ।१३६; गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ ६६ ।

२. काशिकाकार के द्वारा दो विभिन्न प्रयोजनों का उल्लेख होने से तथा प्रवृद्ध और अवहित शब्दों का द्विधापाठ उपलब्ध होने से इस बात की संभावना होती है कि 'प्रवृद्धं यानम्' आदि वाक्य मूल गणपाठ के नहीं हैं, अपितु वृत्तिकारों के उदाहरण कथंचित् गणपाठ में प्रविष्ट हो गए हैं। प्राचीन हस्तलेखों पर काम करने वाले विद्वान् जानते हैं कि किसी हस्तलेख पर उसके प्रान्त में (मार्जन पर) दिए गए विवरणात्मक पाठ उत्तर प्रतिलिपि करने वाले की अज्ञानता अथवा प्रमाद से मूल पाठ में सन्निविष्ट हो जाते हैं।

गण में शब्द विशेष के प्रथम पाठ का कारण

गणों के आरम्भ में जिन शब्दों को स्थान दिया गया है अथवा जिन शब्दों के आधार पर उन उन गणों के नाम-करण हुए हैं, यथा सर्वादि चादि आदि, उन उन शब्दों को प्रथम स्थान क्यों दिया गया, इस पर भी कुछ विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

यद्यपि गण निर्देश करते समय किसी न किसी शब्द को प्रथम पढ़ना ही पड़ता और जिस शब्द को भी प्रथम स्थान दिया जाता, उसके लिए भी यह पूछा जा सकता है कि इस शब्द को प्रथम स्थान क्यों दिया गया। इसलिए सर्वत्र इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर भी नहीं दिया जा सकता। तथापि इतना अवश्य है कि कतिपय गणों में इस प्रश्न पर विचार किया जा सकता है और उसका उत्तर भी मिल सकता है। हमारे विचार में सामान्यतया किसी भी शब्द को प्रथम स्थान देने के लिए यह वाञ्छनीय है कि उस शब्द में अपने गण के अन्य शब्दों की अपेक्षा **लाघव**, **प्राचीन-परम्परा**, **प्रसिद्धि** अथवा किसी **अन्य प्रकार की विशेषता** विद्यमान हो। हमारी इस धारणा में यह कारण है कि गण के प्राथमिक शब्द को ही अष्टाध्यायी के तद्गण संबन्धी सूत्र में रखकर उसी एक शब्द से सूत्रकार पाणिनि को पूरे गण का प्रतिनिधित्व करवाना इष्ट था। अतः सूत्र यथासंभव संक्षिप्त, सरल एवं सुबोध बन सके, इसलिए उपर्युक्त गुणों की सत्ता गण के आरम्भ मे प्रस्तुत शब्द मे सर्वथा वाञ्छनीय है।

लाघव—सूत्रकार पाणिनि ने लाघव की दृष्टि से कई प्राचीन गणों के प्रारम्भिक बड़े शब्द के स्थान पर लघु शब्द का निर्देश किया है। यथा ऋक्तन्त्र मे प्राप्त होने वाले **कौतस्कुतादि** (सूत्र १२८) गण के प्रथम कौतस्कुत शब्द के स्थान पर पाणिनि ने अति लघु **कस्क** शब्द को इस गण के आरम्भ मे पढ़ा।[1]

एक मात्र शब्द-लाघव को ही अपने व्याकरण का आदर्श मानने वाले अर्वाचीन चन्द्रगोमी, पाल्यकीर्ति हेमचन्द्र भोज तथा वर्धमान प्रभृति वैयाकरणों ने पाणिनि के द्वारा स्वीकृत अनेक गण-नामों के स्थान पर छोटा नाम रखने के लिए पाणिनीय गण के प्रारम्भिक शब्द को हटाकर उनके

---

१. द्र० कस्कादिषु च। पा० ८।३।४८॥

स्थान पर अन्य अपेक्षाकृत छोटे शब्दों को रखने का प्रयास किया है। इन का निर्देश उन उन वैयाकरणों के प्रकरण में यथास्थान किया जाएगा।

अनेक साम्प्रतिक विद्वान् अर्वाचीन शब्दानुशासनों में इस प्रकार का शब्द लाघव देखकर उन्हें पाणिनीय तन्त्र की अपेक्षा अधिक विकसित और प्रौढ़ मानते हैं, परन्तु वास्तविकता इससे विपरीत है। पाणिनि प्रभृति प्राचीन वैयाकरण एक मात्र शब्द-लाघव को ही अपना आदर्श नहीं मानते थे। वे अर्थ-लाघव का भी उतना ही ध्यान रखते थे। इसलिए पाणिनि ने '**सर्वनाम-स्थान**' जैसी महती प्राचीन अन्वर्थ संज्ञाओं को भी अपने शास्त्र में **स्थान** दिया। ये संज्ञाएं शाब्दिक रूप में महती होती हुई भी परम्परा से लोक-विज्ञात होने के कारण अर्थरूप में लघुभूत थीं। अर्वाचीन शब्दानुशासनों में सर्वथा नवीन संज्ञाओं के होने के कारण, वे शाब्दिक दृष्टि से लघु होते हुए भी अर्थ की दुरूहता के कारण गुरु बन गए।

प्राचीन परम्परा–आचार्य पाणिनि ने लाघव के साथ साथ प्राचीन परम्परा का भी ध्यान रखते हुए लघुभूत शब्द के **स्थान** पर परम्परा प्राप्त बड़े शब्द को आदि मे रखना उचित समझा। यथा–**सर्वादिगण** में त्यत् तद् त्व आदि अनेक शब्द ऐसे पठित हैं, जो 'सर्व' की अपेक्षा लघु हैं, परन्तु पाणिनि ने उन्हें प्रथम **स्थान** न देकर प्राचीन परम्परा को ध्यान में रखते हुए 'सर्व' शब्द को ही प्रथम रखा। सर्व शब्द की महत्ता इससे भी प्रकट है कि प्राचीन आचार्यों ने सर्वादिगण की जो अन्वर्थ संज्ञा (सर्वनाम) रखी, उसमें भी सर्व शब्द को ही **स्थान** दिया है। इसलिए पाणिनि ने इस गण के आरम्भ मे पठित शब्द तथा सर्वनाम संज्ञा का निर्देश प्राचीन परम्परा के अनुरोध से किया है। इससे यद्यपि शब्द-गौरव तो हुआ, परन्तु अर्थकृत लाघव हो गया। शब्द-लाघव और अर्थ-लाघव में अर्थ-लाघव ही प्रधान होता है।

इसी प्रकार **पात्रेसमितादि पारस्करादि** तथा **पृषोदरादि** जैसे गणों के बड़े बडे प्रारम्भिक शब्द भी संभवतः वैयाकरणों की प्राचीन परम्परा के अनुकरण पर ही गणों में प्राथमिकता प्राप्त कर सके हैं। इन में पृषोदरादि गण के लिए पाणिनि के **पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्** (६। ३। १०८) के 'यथोपदिष्टम्'–पृषोदरादि शब्दों का जिस रूप में उपदेश किया गया, की दृष्टि से प्राचीन आचार्यों द्वारा इतने अंश का अध्याहार करते हुए यह अनुमान करना सरल है कि यह गण पाणिनि से प्राचीन रहा होगा। पाणिनि से

प्राचीन परम्परा के अनुगामी ऋक्तन्त्र में यह गण उपलब्ध भी होता है। देखो ऋक्तन्त्र सूत्र संख्या १६६।

प्रसिद्धि—इसी प्रकार गोत्रविषयक गणों में तथा **मयूरव्यंसकादि, याजकादि, तक्षशिलादि** एवं ब्राह्मणादि गणों में बड़े बड़े शब्दों को प्रथम स्थान देने में उन उन शब्दों की तात्कालिक पर्याप्त प्रसिद्धि को ही कारण मानना होगा, जिसकी स्पष्ट छाप तत्कालीन साहित्य मे हम पा सकते हैं। **लोहितादि** गण के प्रारम्भिक 'लोहित' शब्द के क्यषन्त होने से उभयपद के प्रयोग न केवल पाणिनि के समय ही प्रसिद्ध थे, अपितु कात्यायन और पतञ्जलि के समय में भी विद्यमान थे, जब कि इस गण के अन्य सभी शब्द परस्मैपद के प्रयोगों से हाथ धो बैठे, केवल आत्मनेपद में ही उन के प्रयोग सीमित रह गए! यही कारण है कि 'लोहित' शब्द को छोड़ कर इस गण के शेष सभी शब्दों को **लोहितादिगण** से हटाकर **भृशादिगण** मे (जिससे-क्यङ् होकर केवल आत्मनेपद के प्रयोग होते हैं) पढ़ने का प्रस्ताव कात्यायन द्वारा रखा गया और पतञ्जलि द्वारा अनुमोदित हुआ।[1] अथवा दूसरे शब्दों मे लोहितादि गण को समाप्त करके **लोहितडाज्भ्य. क्यष्** जैसी सूत्ररचना करने का सुझाव दिया। इससे विदित होता है कि पाणिनि के समय ही लोहितादि गण के 'लोहित' के अतिरिक्त शेष शब्दों के उभयदपद के प्रयोग उतने प्रसिद्ध नहीं थे जितने लोहित के। सम्भवतः इसी कारण पाणिनि ने लोहित शब्द को ही प्रथम स्थान देना उचित समझा होगा।

वैशिष्ट्य—पाणिनीय गणपाठ मे कतिपय ऐसे भी गण उपलब्ध होते है, जिनमें किसी शब्द को उसकी किसी विशेषता अथवा महत्ता को देखते हुए ही प्रथम स्थान दिया गया है। इसके उदाहरण के रूप में भी सर्वादि गण को उपस्थित कर सकते हैं। प्राचीन आचार्यों द्वारा रखी गई सर्वादि शब्दों की **सर्वनाम** संज्ञा में **सर्व** शब्द का प्रयोग होने से 'सर्व' शब्द का महत्त्व अतिशय बढ़ गया। इसलिए प्राचीन अन्वर्थ सर्वनाम संज्ञा को अपनाते हुए पाणिनि को सर्वादि गण मे पठित लघु शब्दों की उपेक्षा करके 'सर्व' शब्द को ही प्रथम स्थान देना पड़ा। सर्व शब्द के इसी वैशिष्ट्य ने पाणिनि के पश्चात् आनेवाली वैयाकरणों की लम्बी पीढ़ी को भी, जिसने यथावसर केवल लघुता

१. लोहितडाज्भ्यः क्यष्वचनं भृशादिष्वितराणि। महा० ३।१।१३॥

को ही प्रधानता देते हुए बहुत से पाणिनीय गणों के प्रथम शब्दों को हटाकर अन्य लघुभूत शब्दों को स्थान दिया, सर्व शब्दों के स्थान पर अन्य किसी छोटे शब्द को रखने का दुस्साहस करने से रोक दिया।

इसी प्रकार **कण्ड्वादि** गण के द्विविध अर्थात् प्रातिपदिक और धातु रूप स्वभाव के द्योतन मे सहायक होने के कारण[1] ही गण के अन्य शब्दों की अपेक्षा **कण्डू** को ही प्रथम स्थान प्राप्त हुआ।

गणपाठ में अवान्तर गण

पाणिनि ने केवल गणों के आदि शब्द के निर्धारण मे ही विशेष ध्यान रखा हो, ऐसी बात नहीं है। उसने प्रायः सम्पूर्ण शब्दों के पौर्वापर्यरूप क्रम के निर्धारण मे भी विशेष प्रयत्न किया था।[2] इस प्रयत्न की सूचना जहां सर्वादिगण के शब्दों के पाणिनीय क्रम की आपिशलक्रम की तुलना[3] से

---

१. आह चायमिमं दीर्घं मन्ये धातुर्विभाषितः। महा० ३।१।१२७॥ कण्ड्वादि गण के शब्दों को केवल धातु मानने पर 'कण्डूञ्' में दीर्घ ऊकार का पाठ व्यर्थ होता है, क्योंकि ह्रस्वान्त 'कण्डुञ्' पाठ होने पर भी यक् परे रहने पर 'अकृतसार्वधातुकयोर्दीर्घः' (७।४।२५) से दीर्घ होकर 'कण्डूयति' रूप निष्पन्न हो ही जाता। पुनः दीर्घ पाठ व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि कण्ड्वादि शब्द केवल धातु ही नहीं हैं, प्रातिपदिक भी हैं।

२. इस विषय पर पर आगे (पृष्ठ ७७-८१) विस्तार से लिखा जाएगा।

३. पाणिनि के सर्वादिगण का पाठ क्रम है—'पूर्वपरावरदक्षिण······त्यद्, तद्, यद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम्।' आपिशलि के गण में इसका पाठ इस क्रम से था—'किम्, त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, पूर्वपराधर·········भवतु' (द्रष्टव्य—'इह त्यदादिन्यापिशलैः किमादीन्यस्मत्पर्यन्तानि ततः पूर्वपराधरेति·········। भर्तृहरि महा० टीका पृष्ठ २८७)। आपिशल-क्रम के अनुसार 'किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः' (पा० ५।३।२) सूत्र में द्व्यादि के अन्तर्गत न होने से 'किम्' के ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं थी, परन्तु पाणिनि ने 'त्यदादीनां मिथो यद्यत् परं तच्छिष्यते' (काशिका २।२।६२) नियम को ध्यान में रखते हुए 'यश्च कश्च कौ, भवांश्च कश्च कौ' आदि एकशेष में 'किम्' शब्द का शेष द्योतनार्थ आपिशलि द्वारा त्यदादि से पूर्व पढ़े गए 'किम्' शब्द को सर्वान्त में पढ़ा। आपिशलि का एक शेष का नियम अज्ञात है।

प्राप्त होती है, वहां अवान्तर गणों के निर्देश अथवा व्यवहार[1] से इसकी अतिस्पष्ट प्रतीति होती है।

पाणिनि ने गणों के शब्दों के क्रमनिर्धारण में उन गणों से साक्षात् संबन्ध रखने वाले प्रमुख सूत्रों के अतिरिक्त किन अन्य सूत्रों में तद्गणस्थ कतिपय शब्दों का उपयोग हो सकता है, इस बात का भी सूक्ष्म ध्यान रखकर कतिपय गणों में किन्हीं विशिष्ट शब्दों को एक साथ रखने का प्रयास किया है। तथा उन शब्दों में प्रथम पठित शब्द के साथ **आदि** शब्द का प्रयोग करके सूत्रों को सरल तथा संक्षिप्त करने का लाभ उठाया है। इस प्रकार के **अन्य** सूत्रों के कार्य में उपयोगी शब्द समूहों को **अवान्तरगण** कहा जाता है। ये शब्द एक ओर मुख्य गण में विद्यमान रह कर मुख्य गण सम्बन्धी सूत्र द्वारा निर्दिष्ट होकर उसे महती शक्ति प्रदान करते हैं और तद्विहित कार्य को प्राप्त होते हैं, तथा दूसरी ओर अपनी छोटीसी शब्द-मण्डली के रूप में अन्य सूत्रों द्वारा निर्दिष्ट होकर उनकी संक्षिप्तता मे सहायक बनते हैं और तद्विहित विशिष्ट कार्य को भी प्राप्त होते है।

अब कतिपय अवान्तर गणों का निदर्शन कराते हैं—

१—**सर्वाद्यन्तर्गत**—गणपाठ के प्रथम सर्वादिगण में **डतरादि**, **पूर्वादि**, **त्यदादि** तथा **द्व्यादि** ये चार अवान्तर गण हैं। इन मे से **त्यदादि** का निर्देश पाणिनि ने चार सूत्रों[2] मे **डतरादि**, **पूर्वादि** तथा **द्व्यादि** का एक एक सूत्र[3] मे निर्देश किया है।

२—**गर्गाद्यन्तर्गत**—चतुर्थ अध्याय के गर्गादि गण मे **लोहितादि** तथा **कतन्त्वादि** ये दो अवान्तर गण पाए जाते हैं। लोहितादि[4] का निर्देश

---

१. द्रष्टव्य—'सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः' (४।१।१८) सूत्र में आद्यन्त शब्दों का उपादान।

२. द्रष्टव्य—त्यदादीनि च (१।१।७४), त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् (१।२।७२), त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च (३।२।६०), त्यदादीनामः (७।२।१०२)।

३. द्रष्टव्य—अद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः (७।१।२५), पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा (७।१।१६), किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः (५।३।२)।

४. लोहितादिडाज्भ्यः क्यष् (३।१।१३) सूत्र निर्दिष्ट लोहितादिगण इस से भिन्न है।

सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः (४ । १ । १८) तथा कण्वादि का **कण्वादिभ्यो गोत्रे** (४ । २ । १११) में किया है ।

३–**नडाद्यन्तर्गत**–नडादिगण में पठित बिल्व आदि शब्दों का **नडादीनां कुक् च** (४ । २ । ९१) सूत्र विहित कुगागम से युक्त कर के '**बिल्वकादिश्छस्य लुक्** (६ । ४ । १५३) इस सूत्र में उपयोग हुआ है । इसलिए इन्हें भी अवान्तरगण के रूप मे ही मानना होगा ।

४–**बिदाद्यन्तर्गत**–बिदादिगण मे **गोपवनादि** और **हरितादि** ये दो अवान्तर गण मिलते हैं । सूत्रकार ने इनका निर्देश **न गोपवनादिभ्यः** (२ । ४ । ६७) तथा **हरितादिभ्योऽञः** (४ । १ । १००) सूत्रों में किया है । ऐसा प्रतीत होता है कि यह गोपवनादि गण उत्तर काल में अवान्तर गण न रहकर स्वतन्त्र गण के रूप में पठित अथवा व्यवहृत होने लगा और उस स्वतन्त्र गोपवनादि गण में इसके मूल अथवा प्रधान बिदादिगण मे **गोपवन** आदि शब्दों के पश्चात् पढ़े गए **हरित** आदि शब्द भी प्रमादवश पढ़े जाने लगे । सम्भवतः इसी अव्यवथा को कात्यायन ने **गोपवनादिभ्यः प्रतिषेधः प्राग्घरितादिभ्यः** इस[1] वार्तिक की रचना द्वारा **प्राग् हरितादि** हरितादि शब्दों से पहले पहले–के रूप में दूर करने का प्रयत्न किया । इसी कात्यायनीय वार्तिक के आधार पर आचार्य चन्द्रगोमी ने **न गोपवनादिभ्योऽष्टभ्यः**[2] सूत्र द्वारा **अष्टभ्यः** केवल गोपवनादि आठ शब्दों से–के रूप में गोपवनादि गण को नियमित अथवा व्यवस्थित करना चाहा । काशिकाकार ने **न गोपवनादिभ्यः** (२ । ४ । ६७) इस पाणिनीय सूत्र की व्याख्या करते हुए कात्यायन की उपर्युक्त वार्तिक तथा चन्द्रगोमी के पूर्व निर्दिष्ट सूत्र की पृष्ठभूमि में यह स्पष्ट कह दिया–

एतावन्त एवाष्टौ गोपवनादयः, परिशिष्टानां हरितादीनां प्रमादपाठः ।[3]

अर्थात्–गोपवन आदि आठ शब्द ही इस गण में अभीष्ट हैं शेष '**हरित**' आदि शब्द जो इस गण में पठित मिलते हैं वे प्रमाद पठित हैं ।

काशिकाकार के इस कथन से उपर्युक्त धारणा 'गोपवनादि स्वतन्त्र गण

---

१. महा० २ । ४ । ६७ ॥ २. चान्द्र २ । ४ । १६ ॥
३. काशिका २ । ४ । ६७ ॥

के रूप में पढ़ा जाने लगा था' का स्पष्ट संकेत मिलता है। अतएव पदमञ्जरीकार ने स्पष्ट लिखा है कि वृत्तिकार यहां पर स्वतन्त्र पाठ मानता है–

वृत्तिकारस्तु चतुर्थे अत्र च पृथक् पाठं मन्यते। भाग १, पृष्ठ ४९०।

४–**गौराद्यन्तर्गत**–गौरादि गण के अन्त में मिलने वाले तथा उसके अवान्तरगण के रूप में प्रतीत होने वाले **पिप्पली** आदि शब्द समूह का अष्टाध्यायी में कहीं भी किसी सूत्र में निर्देश न होने के कारण उसे अपाणिनीय ही मानना होगा। इसका प्रतिपादन हम पूर्व (पृष्ठ ३४,३५) कर चुके हैं।

इन अवान्तर गणों के प्रसङ्ग मे एक और बात ध्यान देने योग्य है कि ये अवान्तर गण पठितगणों मे ही अपना स्वरूप निर्धारित कर सके है, तथा जिन सूत्रों मे इनका उपयोग हुआ है वहां भी ये पठितगण के रूप में ही उपस्थित हुए हैं। दूसरे शब्दों मे इस बात को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि न तो आकृतिगणों से कहीं कोई अवान्तर गण लिया गया है और नाही ये स्वयं कहीं आकृतिगण के प मे स्वीकृत हुए हैं। यह तथ्य भी इस बात का पोषक है कि आकृतिगणों का पाठ अथवा उनके शब्दों का निर्धारण सूत्रकार द्वारा नहीं किया गया था, जब कि पठितगणों के प्रत्येक शब्द का निर्धारण स्वयं सूत्रकार ने ही किया था।

गणपाठ में शब्दों का क्रम

गणपाठ मे निर्दिष्ट गणों में जो शब्द पढ़े गए हैं, उनमें गणकार को कोई विशिष्ट क्रम अभिप्रेत था अथवा नहीं, यदि था तो क्या वही क्रम आज भी गणपाठ में विद्यमान है अथवा नहीं, इस विषय पर भी विचार करना अत्यावश्यक है।

जहां तक आकृतिगणों का संबन्ध है, उनमें शब्दों के क्रम का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि आकृतिगणों में अभिप्रेत समस्त शब्दों का पाठ सूत्रकार (क्योंकि वही गणकार भी है) ने नहीं किया था। उपलक्षण रूप में भले ही दो चार शब्दों का पाठ उस ने किया हो, अथवा किसी विशेष प्रयोजन को दृष्टि में रखते हुए कतिपय शब्दों को स्वतः आकृतिगण में स्थान दिया हो, यह दूसरी बात है। इसलिए उक्त विचार पठितगणों से ही सम्बन्ध रखता है, अतः उन्हीं के विषय में विचार करते हैं।

उपर्युक्त प्रश्न अथवा जिज्ञासा का सन्तोषजनक समाधान स्वयं पाणिनि के कतिपय सूत्रों से ही प्राप्त हो जाता है। यथा–

१–सर्वादि गण के शब्दों के अभिप्रेत क्रम विशेष के लिए अष्टाध्यायी के कतिपय सूत्र उपस्थित किए जा सकते हैं। वे सूत्र हैं–

अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः । ७ । १ । २५ ॥

पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा । ७ । १ । १६ ॥

त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् । १ । २ । ७२ ॥

किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः । ५ । ३ । २ ॥

अब एक एक सूत्र की मीमांसा करते हैं–

अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः (७।१।२५) सूत्र सर्वादि गण पठित नपुंसक लिङ्ग मे वर्तमान **डतर** आदि पांच शब्दों को प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के एक वचन 'सु' तथा 'अम्' के परे रहने पर 'अदड्' आदेश का विधान करता है। सर्वादि गण में **डतर** आदि शब्दों का जो क्रम है तथा उस क्रम के अनुसार जो **डतर डतम इतर अन्य अन्यतर** पांच शब्द गृहीत होते हैं, केवल उनसे ही सु तथा अम् के परे 'अदड्' आदेश लोक मे देखा जाता है। यदि गणपाठ में कोई निश्चित क्रम अभिप्रेत न होता तो सूत्रकार का **पञ्चभ्यः** कथन कथंचिद् भी उपपन्न न होता।

पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा (७।१।१६) सूत्र सर्वादि गण पठित **पूर्व** आदि नौ शब्दों से पञ्चमी तथा सप्तमी विभक्ति के एक वचन में क्रमशः 'स्मात्' 'स्मिन्' आदेश का विकल्प से विधान करता है। यहां भी यह निर्विवाद सत्य है कि जिस क्रम से पूर्व आदि शब्दों का सर्वादिगण मे पाठ उपलब्ध होता है, उसी क्रम के अनुसार जो **पूर्व पर** आदि नौ शब्द गृहीत होते हैं, उनसे ही वैकल्पिक 'स्मात्' 'स्मिन्' आदेश भाषा मे पाए जाते हैं। यदि गणकार को सर्वादि गण मे शब्दों का कोई निश्चित क्रम अभिप्रेत न होता तो यहां भी **नवभ्यः** निर्देश कथंचिदपि उपपन्न न होता।

दोनों सूत्रों मे निश्चित संख्या-द्योतक **पञ्चभ्यः** और **नवभ्यः** शब्दों का प्रयोग करने में सूत्रकार तभी समर्थ हो सकते थे, जब कि गणकार के रूप में उन्होंने गणपाठ में शब्दों का कोई निश्चित क्रम अपनाया हो।

त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् (१।२।७२) सूत्र बताता है कि यदि किसी या किन्हीं शब्दों के साथ **त्यद्** आदि शब्दों का प्रयोग अभिप्रेत हो तो वहां केवल त्यद् आदि शब्द ही एकशेष द्वारा अवशिष्ट रहते हैं अर्थात् प्रयुक्त होते है। यथा–**स च देवदत्तश्च तौ** इत्यादि। जब त्यदादि गण में पठित शब्दों

का ही एक साथ प्रयोग अभिप्रेत होता है तब उनमे जो जो शब्द पर होता है, वही अवशिष्ट रहता है। इस बात का द्योतक वैयाकरणों का एक नियम है—**त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यद्यत्परं तच्छिष्यते**। प्रस्तुत प्रसंग मे यह नियम बड़े महत्त्व का है। इसका अभिप्राय यह है कि **त्यद्**, **तद्**, **यद्**, **एतद्**, **इदम्**, **अदस्**, **एक**, **द्वि**, **युष्मद्**, **अस्मद्**, **भवतु**, **किम्** ये शब्द आपस मे ही सहोक्ति के रूप मे प्रयुज्यमान हों तो इनमे जो जो पर है उसी का एकशेष के रूप मे प्रयोग होगा। यथा—**स च यश्च यौ**, **यश्च कश्च कौ**। इस प्रकार पाणिनि का सूत्र और वैयाकरणों द्वारा आश्रित नियम, इन दोनों से यह स्पष्ट है कि एकशेष विषयक भाषागत विभिन्न प्रयोगों को देखकर ही गणकार ने त्यद् आदि शब्दों के क्रम अथवा पौर्वापर्य का निर्धारण किया था।

किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः—इस सूत्र मे 'किम्' शब्द की विद्यमानता यह स्पष्ट घोषित कर रही है कि सर्वादिगण मे **किम्** शब्द को **द्वि** इत्यादि शब्दों के अनन्तर पढ़ा था। अन्यथा यदि **द्वि** शब्द से पूर्व किम् को रखा गया होता, जैसा कि आपिशलि ने सर्वादिगण मे रखा था[1], तो सूत्र के **अद्व्यादि** पद से उसका निषेध नहीं होता। उस अवस्था मे 'किम्' पद को सूत्र मे पढना सर्वथा अनावश्यक था।[2] पतञ्जलि, कैयट, तथा भर्तृहरि के प्रामाणिक साक्ष्य से हम यह भी जानते है कि कुछ वैयाकरणो ने अपने सर्वादिगण मे त्यद् आदि शब्दों के पश्चात् **पूर्वपराधर** आदि सूत्रों अथवा शब्दों का रखा था।[3] इनमे आपिशलि भी एक है।[3] इस से स्पष्ट है कि इन प्राचीन वैयाकरणों के सर्वादिगण के शब्दक्रम को पाणिनि ने अपने गणपाठ मे नहीं अपनाया।

इस प्रकरण मे **गर्गादि** गण से संबन्ध रखने वाले एक रोचक एवं अत्यावश्यक प्रसंग की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना उचित है।

१. द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ ७४ की टिप्पणी ३।

२. इस विचार से यह भी व्यक्त होता है कि आपिशलि के सूत्रपाठ में 'किम्' शब्द का पाठ नहीं रहा होगा। तदनुसार उसका सूत्रपाठ संभवतः 'सर्वनामबहुभ्यो ऽद्व्यादिभ्यः' रहा होगा।

३. द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ २६, टिप्पणी ५, ६।

गर्गादि प्रधान गण में दो अवान्तर गण हैं लोहितादि तथा कण्वादि। इनकी चर्चा पूर्व की जा चुकी है।[1] वार्तिककार के अनुसार जिस शब्द पर लोहितादि गण समाप्त होता है, ठीक उसी के अनन्तर **शकल** शब्द का पाठ करके और कण्वादि शब्द में षष्ठी समास का भी निर्देश मानकर कण्वादि गण का आरम्भ माना जाता है।[2] परन्तु गर्गादि गण में पाठक्रम इस प्रकार है–

लोहित, संशित, ······ कपि, कत, कुरुकत, अनडुह्, कण्व, शकल। इस रूप में लोहितादिगण **लोहित** शब्द से लेकर **कत** पर्यन्त माना जाता है[3] और **कण्व** से लेकर अन्त तक कण्वादि गण। इस क्रम और व्यवस्था के अनुसार **शकल** शब्द केवल **कण्वादि** के अन्तर्गत आसकता है, **लोहितादि** गण के अन्तर्गत नहीं। इसलिए यञन्त शकल शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ष्फ प्रत्यय की प्राप्ति नहीं होती, परन्तु ष्फ प्रत्यय का प्रयोग उपलब्ध होने से इष्ट है। इसी प्रकार गोत्रप्रत्ययान्त शकल शब्द मे शैषिक अण भी इष्ट है। इसलिए **शाकल्यायनी** तथा **शाकल्यस्य छात्राः शाकलाः** दोनों प्रकार के प्रयोगों की सिद्धि के लिए आवश्यकता इस बात है कि शकल शब्द का **लोहितादि** तथा **कण्वादि** दोनों अवान्तर गणों में संग्रह हो। इस समस्या के समाधान के लिए श्लोकवार्तिककार ने एक उपाय सुझाया है कि **शकल** शब्द को अपने मूल स्थान से हटाकर **कण्व** से पूर्व तथा **कत** शब्द के पश्चात् रखना चाहिए (और मध्यवर्ती **कुरुकत अनडुह्** शब्दों को लोहित से पूर्व पढ़ देना चाहिए)।[4] इस परिवर्तित अवस्था में शब्दों का क्रम होगा–**कत, शकल, कण्व**। इस प्रकार शकल शब्द के कत शब्द के पश्चात् होने पर **लोहितादिकतन्तेभ्यः** मे **कतस्य अन्तः कतन्तः** षष्ठी समास मानने पर सूत्रगत **कतन्त** शब्द से शकल का ग्रहण भी लोहितादि गण में हो जाएगा और उससे स्त्रीलिङ्ग मे **ष्फ** प्रत्यय हो जाएगा। इसी प्रकार **कण्वादिभ्यः** में **कण्वस्य आदिः कण्वादिः, कण्वादिरादिर्येषां ते**

---

१ द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ ७५, ७६।

२. कण्वात्तु शकलः पूर्वः कतादुत्तर इष्यते।
पूर्वोत्तरौ तदन्तादि ष्फाणौ तत्र प्रयोजनम्। महा० ४। १। १८॥

३. द्रष्टव्य–सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः। पा० ४।१।१८॥

४. कोष्ठान्तर्गत निर्देश अर्थापत्ति से ज्ञापित होता है।

कण्वादयः (मध्यपदलोपी समास) विग्रह मान कर शकल का कण्वादि मे भी अन्तर्भाव हो जाएगा और उससे शैषिक अण् प्रत्यय की प्राप्ति भी हो जाएगी।[1] इस प्रकार **देहलीदीप न्याय** मे शकल का उभय गणों मे अन्तर्भाव हो जाता है।

उपर्युक्त मीमांसा मे दो बातें स्पष्ट हैं—एक तो पाणिनि ने **लोहितादिक-तन्तेभ्यः** सूत्र निर्दिष्ट गण के आद्यन्त=दोनों ओर के शब्दों का निर्देश करके यह ज्ञापित कर दिया कि उसके गणपाठ मे शब्दों का विशेष क्रम अपेक्षित है। दूसरा श्लोकवार्तिककार का उपरिनिर्दिष्ट समाधान इस बात की घोषणा कर रहा है कि उस के समय में गर्गादि गण में लोहितादि शब्दों का वही क्रम था जो गणकार पाणिनि ने निर्धारित किया था।

सौभाग्य की बात है कि गणपाठ के उपरि निर्दिष्ट सभी स्थलों में शब्दों के पौर्वापर्य क्रम मे आजतक भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसलिए यह कहा जा सकता है कि जिस गण मे शब्दों के क्रम-विशेष का कोई महत्त्व नहीं है, उस गण के शब्दों के क्रम निर्धारण का भी कोई विशेष प्रयोजन नहीं। परन्तु जिन गणों के शब्द-विन्यास-क्रम का शब्द-साधन में थोड़ा सा भी प्रभाव पड़ सकता था, उसका गणकार पाणिनि ने पूरा पूरा ध्यान रखा था। इस को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि गणपाठ में स्वीकृत शब्दों के क्रम का पूरा पूरा ध्यान रखते हुए ही सूत्र-कार पाणिनि ने अपनी सूत्ररचना को साकार किया था।

पाणिनीय गणपाठ में अपाणिनीय गण

पाणिनीय गणपाठ के हस्तलेखों एवं पाणिनीय अष्टाध्यायी के काशिका आदि व्याख्या ग्रन्थों में **परिमुखादि** तथा **काष्ठादि** ये दो गण भी पठित मिलते हैं। इन में परिमुखादि गण का संबंध जिस **अव्ययीभावाच्च** (४।३।५९) सूत्र से स्थापित किया जाता है, उस में पाणिनि ने 'आदि' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। अन्य सभी गण-सम्बद्ध सूत्रों में चाहे वे धातुगण से संबद्ध हों, चाहे प्रातिपदिक गण मे, सूत्रकार ने सर्वत्र अनिवार्य-तया गणनिर्देशक 'आदि' अथवा 'प्रभृति' अथवा बहुवचनान्त शब्द का प्रयोग किया है। इसलिए परिमुखादि को कथमपि पाणिनीय नहीं माना

१. **कण्वात्तु शकलः** पूर्वः **कतादुत्तर** इष्यते।
पूर्वोत्तरौ तदन्तादी ष्फाणौ तत्र प्रयोजनम्॥ महा० ४।१।१८॥

जा सकता। हां, पाणिनि के उपर्युक्त सूत्र से संबद्ध कात्यायन के **व्यप्रकरणे परिमुखादिभ्यः उपसंख्यानम्**[1] वार्तिक मे पठित 'परिमुखादिभ्यः' से इस गण का संबन्ध मानना होगा। पतञ्जलि ने इस वार्तिक की जो व्याख्या प्रस्तुत की है और जिस का अनुगमन कैयट तथा नागेश ने किया है[2] उसमे यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है कि परिमुखादि गण का निर्धारण पाणिनि द्वारा नही हुआ है। धातुवृत्तिकार ने स्पष्ट ही कहा है–**परिमुखादिभ्य उपसंख्यानमिति वार्तिकम्**। प्रतीत होता है उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने उक्त वार्तिक का अनुसरण करके इस गण को पाणिनीय गणपाठ में स्थान दे दिया और शनैः शनैः पाणिनीय गणपाठ का अङ्ग ही बन गया। सम्भवतः इसी कारण न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि[3], हरदत्त[4] तथा भट्टोजी दीक्षित[5] प्रभृति ने दिगादिगण के अनन्तर इस परिमुखादि गण का पाठ देख कर पाणिनीय समझ लिया और इस के पाणिनीयत्व के प्रतिपादन मे अनेक युक्तियां उपस्थित की; जो उपर्युक्त स्थिति मे सर्वथा हेय एवं उपेक्ष्य है।

इसी प्रकार काष्ठादिगण भी **पूजनात् पूजितमनुदात्तम्** (८।१।६७) इस पाणिनीय सूत्र से संबद्ध कात्यायन के **पूजितस्यानुदात्तत्वे काष्ठादिग्रहणं कर्त्तव्यम्**[6] वार्तिक से संबन्ध रखता है, न कि पाणिनीय सूत्र से। इसलिए इस गण को भी पाणिनीय गणपाठ में वृत्तिकारों के प्रमादवश स्थान मिला है।

वास्तविकता यह है कि कात्यायन तथा पतञ्जलि के उत्तरवर्ती वैयाकरण चन्द्रगोमी ने पाणिनीय सूत्रों के विषय में इन दोनों मनीषियों द्वारा प्रस्तुत प्रायः सभी संशोधनों, परिवर्तनों, तथा परिवर्धनों को अपनी सूत्ररचना मे सर्वांशतः स्वीकृत कर लिया। इसलिए कात्यायन की अनेक वार्तिकें चान्द्र व्याकरण के सूत्रों में प्रतिष्ठित दिखाई देती हैं। प्रो० कीलहार्न की निश्चित धारणा है कि काशिकाकार ने चन्द्रगोमी की सारी सामग्री का अपनी वृत्ति-रचना मे पर्याप्त उपयोग किया है। इसलिए

---

१. महा० ४।३।५६॥

२. द्र० ४।३।५६ का भाष्य, प्रदीप तथा उद्योत ग्रन्थ।

३. न्यास ४।३।५६॥ ४. प० मं० भाग २ पृष्ठ १७४।

५. श० कौ० ४।३।५६; पृष्ठ १६६॥ ६. महा० ८।१।६७।

कात्यायन भी वार्तिकों के आधार पर रचित चन्द्रगोमी के कुछ सूत्रों को भी काशिकाकार ने पाणिनि के मौलिक सूत्रों के स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया है। संभवतः इसी प्रवृत्ति से प्रभावित होकर यहां भी काशिकाकार ने पाणिनि के **'पूजनात् पूजितमनुदात्तम्** (८।१।६७) सूत्र के स्थान पर **पूजनात् पूजितमनुदात्तं काष्ठादिभ्यः** (का० ८।१।६७) इस प्रकार की सूत्ररचना को प्रश्रय दिया, और इसी कारण वार्तिक से संबद्ध काष्ठादि गण पाणिनीय गणपाठ में प्रविष्ट हो गया।

पाणिनीय गणपाठ में औणादिक गण

पाणिनि के गणपाठ मे **गम्यादि** (३।३।३) तथा **भीमादि** (३।४।७४) ये दो गण भी प्राप्त होते हैं। इन गणों में पठित शब्दों की सिद्धि अष्टाध्यायी के सूत्रों से न होने के कारण इन गणों का विशेष संबन्ध अष्टाध्यायी मे न होकर उणादि सूत्रों से है। इन गणों की सत्ता से भी विद्वानों की इस संभावना को बल मिल सकता है कि उणादि सूत्रों की रचना पाणिनि की सूत्र-रचना से पूर्व ही हो चुकी थी।[1]

पाणिनि के **न्यङ्क्वादि** (७।३।५३) गण मे भी कुछ औणादिक शब्दों का पाठ है। उसे देख कर नागेश भट्ट ने लिखा है कि गणपाठ मे इन शब्दों का पाठ व्युत्पत्तिवादी किन्हीं अन्य वैयाकरणों के अभिप्रायानुसार है।[2]

गणनिर्धारण में शब्दों की इयत्ता

पाणिनीय गणपाठ मे कुछ ऐसे भी गण हैं जिन का निर्धारण केवल चार पांच शब्दों के लिए ही किया गया है। उदाहरण के लिए **क्रमादि** अथवा **कोटरादि** गण द्रष्टव्य हैं। इसके विपरीत अष्टाध्यायी में **इन्द्रवरुणभवशर्व** (४।१।४९) अथवा **जानपदकुण्डगोण** (४।१।४२) अनेक ऐसे बड़े बड़े सूत्र मिलते हैं जिन में दस दस बीस बीस शब्द विद्यमान हैं, जिन के लिए गणशैली का उपयोग लाघव की दृष्टि से विशेष लाभकारी हो सकता था। इसलिए ऐसा नहीं कहा जासकता कि पाणिनि की गणशैली अथवा गण निर्धारण शब्दों की किसी निश्चित संख्या पर आश्रित थी।

---

१. द्रष्टव्य—पूर्व पृष्ठ २८।

२. एषु उणादिपाठो व्युत्पत्तिवादिवैयाकरणान्तराभिप्रायेण। लघुशब्देन्दु० उत्तरार्ध, पृष्ठ ४७०।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के स्थलों मे उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने पर्याप्त परिवर्तन किया है। उन्हों ने क्रमादि जैसे गणों को, जिन में शब्दों की संख्या बहुत स्वल्प थी, उन्हें गणरूप मे न रख कर सूत्रों में ही उन शब्दों का साक्षात् पाठ कर दिया।[1] इसी प्रकार जिन सूत्रों मे अधिक शब्दों का निर्देश करना आवश्यक था, जैसे **इन्द्रवरुणभवशर्व** (४।१।४९) अथवा **जानपदकुण्डगोण** (४।१।४२) इत्यादि सूत्र, उन्हें **इन्द्रादि**[2] तथा **जानपदादि**[3] अथवा **कुण्डादि**[4] जैसे गणों में परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार पाणिनि के वे वे सूत्र पर्याप्त लघु हो गए।

प्रश्न हो सकता है कि गणशैली को अपनाते हुए भी पाणिनि ने उसका आश्रय लेकर बड़े बड़े सूत्रों को लघुरूप क्यों नही दिया? हमारे विचार मे इसका प्रधान कारण यह है कि सर्वत्र ही गणशैली का आश्रय लेकर प्रथमातिरिक्त शब्दों को दृष्टि से ओझल कर देने से जहां व्याकरण के वास्तविक कार्य (शब्दसाधुत्व-बोधन) मे बाधा होती है, वहां शास्त्र की सरलता और साक्षात् उपदेशता भी समाप्त हो जाती है।

क्रमादि जैसे गणों को, जिनमे शब्दों की संख्या बहुत स्वल्प है, पाणिनि ने गणपाठ मे **स्थान** क्यों दिया? इस का उत्तर यह है कि इन गणों को पाणिनि ने अपने से पूर्व वैयाकरणों द्वारा प्राप्त किया था, दूसरे शब्दों मे वैयाकरणों की प्राचीन परम्परा के अनुसार इन्हें पढ़ा था।

गणपाठ में उपलभ्यमान गणसूत्रों की समस्या

पाणिनीय गणपाठ के विभिन्न गणों मे अनेक वाक्य उपलब्ध होते है, जिन्हें **गणवाक्य** अथवा **गणसूत्र** कहा जाता है। अष्टाध्यायी के सूत्रों के समान इन गणसूत्रों को भी पाणिनीय ही माना जाता है। इन गणसूत्रों के विषय मे अभी तक कोई स्पष्ट अथवा अस्पष्ट संकेत अथवा सूचना प्राप्त नही हुई, इसलिए इन का प्रारम्भिक अथवा मौलिक स्वरूप क्या था, इस विषय मे कुछ भी कह सकना पर्याप्त कठिन है। हां, इतना अवश्य है कि

१. द्र० शाकटायन २।४।१८०॥ हैम २।३।७६॥

२. द्र. सारस्वत १५।२६॥ ३. सारस्वत १५।४२॥

४. गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ ४६।

अष्टाध्यायी के अनेक सूत्रों तथा कात्यायन की वार्तिकों के साथ गणसूत्रों के विभिन्न प्रसंगों के तुलनात्मक अध्ययन से इस बात की प्रतीति होती है कि सम्भवतः इन गणसूत्रों के कर्त्ता आचार्य पाणिनि नहीं है।

गणसूत्रों के अपाणिनीयत्व में हेतु

हम अपनी उपर्युक्त धारणा की पुष्टि के लिए विद्वानों के समक्ष कतिपय हेतु उपस्थित करते हैं—

प्रथम हेतु—आचार्य पाणिनि ने सूत्रपाठ धातुपाठ तथा गणपाठ इन तीनों का पृथक् पृथक् प्रवचन किया है। वस्तुत: सूत्रपाठ के परिशिष्ट रूप गणपाठ तथा धातुपाठ शब्दानुशासन के पूरक माने जाते हैं। परिशिष्ट होने के नाते ही इन्हें **खिलपाठ** भी कहा जाता है। जब पाणिनि ने सूत्रों की रचना अष्टाध्यायी में की ही है तब इन तथाकथित गणसूत्रों को भी सूत्रपाठ मे ही स्थान मिलना चाहिए था, न कि उसके परिशिष्ट रूप मे स्वीकृत गणपाठ मे—यदि इन दोनों प्रकार के सूत्रों के कर्त्ता आचार्य पाणिनि माने जाएं। गणपाठ मे भी सूत्रों की सत्ता स्वीकार कर लेने पर सूत्रपाठ धातुपाठ तथा गणपाठ इन तीन प्रकार के वर्गीकरण मे अस्वारस्य उत्पन्न होता है। पाणिनि इस प्रकार के अस्वारस्य या अव्यवस्था को क्यों उत्पन्न करना चाहते, यह बात समझ मे नहीं आती।

द्वितीय हेतु—अष्टाध्यायी के सूत्रों तथा गणसूत्रों की रचना शैली की पारस्परिक तुलना करने से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है कि इन दोनों प्रकार के सूत्रों की शैली मे महान् अन्तर है। अष्टाध्यायी की सूत्ररचना गम्भीर, संक्षिप्त तथा व्यापक होती हुई आचार्य पाणिनि के सूत्ररचना मे निष्णातत्व का द्योतन करती है, परन्तु गणपाठ मे मिलने वाली सूत्ररचना विस्तृत, व्यापक एवं पाणिनि की प्रत्याहार-शैली से सर्वथा अपरिचय प्रकट करती हुई इस बात का संकेत करती है कि इन गणसूत्रों की रचना उस काल की है, जब पाणिनि जैसे किसी कुशल सूत्र-शिल्पी की तूलिका के संस्पर्श से सूत्रशैली अछूती थी।

उदाहरण के रूप मे **कुम्भकारसन्ध्यन्तरान्तः**,[1] **तसिलादयस्तद्धिता एधाच्पर्यन्ताः**[1] गणसूत्रों को उपस्थित किया जा सकता है। इनकी तुलना

---

१. गणपाठ, स्वरादि गण १।१।३७॥

मे पाणिनि के **कृन्मेजन्तः** (१।१।३९) **तद्धितश्चासर्वविभक्तिः** (१।१।३८) सूत्र अतिसंक्षिप्त तथा व्यापक हैं।

इनमे प्रथम उदाहरण विशेष महत्त्व का है। यहां गणसूत्र में **मकार** तथा **सन्ध्यक्षर** का प्रयोग किया गया है, परन्तु उसी अर्थ के निर्देशक अष्टाध्यायी के सूत्र में **म** तथा **एच्** प्रत्याहार का प्रयोग करके सूत्रकार ने उसे पर्याप्त लघुरूप दिया है। यदि लाघव की दृष्टि से थोड़ा बहुत महत्त्व रखने वाले **मकार** तथा **म** के भेद की उपेक्षा भी कर दी जाए तो भी **सन्ध्यक्षर** तथा **एच्** के प्रयोग भेद को किसी भी दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। यह लगभग पूरे निश्चय से कहा जा सकता है कि **ए ऐ ओ औ** इन चार अक्षरों की **सन्ध्यक्षर** संज्ञा पाणिनि से प्राचीन परम्परा वाले प्रातिशाख्यों[1] तथा उसकी पारिभाषिक शब्दावली से प्रभावित कात्यायन की वार्तिकों[2] में प्राप्त होती है। अष्टाध्यायी के सूत्रों में जहां कहीं भी इन चार अक्षरों का एक साथ निर्देश करने की आवश्यकता पड़ी, पाणिनि ने सर्वत्र **एच्** प्रत्याहार का ही प्रयोग किया है।[3]

यों तो पाणिनि से पूर्व भी किन्हीं वैयाकरणों ने इन सन्ध्यक्षरों के लिए **एच्** के **स्थान** में **एष्** का प्रयोग किया था[4] और साथ ही पाणिनि के अनन्तरभावी कात्यायन ने अपनी वार्तिकों में प्रायः सर्वत्र **एच्** प्रत्याहार का प्रयोग न करके सन्ध्यक्षर का ही प्रयोग किया है। इसलिए केवल **सन्ध्यक्षर** अथवा **एच्** प्रत्याहार के प्रयोग करने अथवा न करने के आधार पर हम किसी सूत्र की प्राक्कालीनता अथवा अवान्तरकालीनता को एक मात्र कारण नहीं मान सकते। परन्तु इतना अवश्य कहेंगे कि एक ही सूत्रकार जब कि अष्टाध्यायी में वह सर्वत्र **एच्** प्रत्याहार का व्यवहार कर रहा है, तो गणपाठ में आकर सूत्ररचना के अवसर पर **एच्** प्रत्याहार के प्रयोग को भूल जाएगा,

---

१. ऋक्प्रा० १।१, २; वा० प्रा० १। ४४, ४५; तै० प्रा० १।२; चतुरध्यायिका १।४० ॥

२. महा० नवा० पृष्ठ ५८; १ । १ । ३, पृष्ठ १५६, इत्यादि,

३. यथा—एचोऽयवायावः । ६ । १ । ७८ ॥

४. एष प्रत्याहारः पूर्वव्याकरणेऽपि स्थित एव । अयं तु विशेषः—'एओष्' इति यदासीत् तद् 'एओच्' इति कृतम् । तथाहि लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः, तृणधान्यानां च द्वयषाम् इति पठ्यते । चान्द्रवृत्ति देवनागरी सं० भाग १, पृष्ठ ६॥

जो उसके व्याकरण-शास्त्र की प्रमुख विशेषता है और अपने शास्त्र मे सर्वथा अप्रसिद्ध **सन्ध्यक्षर** जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करके सूत्र के कलेवर को अनावश्यक रूप से बढ़ाना चाहेगा, यह कल्पना भी नही की जा सकती।

इसी प्रकार गणसूत्रों में **राजाऽसे**[1] **हृदयाऽसे**[2] तथा **पुरुषाऽसे**[2] ये तीन सूत्र ऐसे मिलते हैं, जिनमे गणसूत्रकार ने **असमासे** के अर्थ मे **असे** का प्रयोग किया है। यदि ये सूत्र भी आचार्य पाणिनि के माने जाएं तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि एक ही सूत्रकार गणसूत्रों में **असे** का और अष्टाध्यायी के सूत्रों मे **असमासे**[3] का प्रयोग क्यों करता है? जब कि **असमासे** की अपेक्षा **असे** का प्रयोग निश्चित ही लघु है और लाघव के कारण ग्राह्य हो सकता है। वैदिक व्याकरण की किसी परम्परा के अनुयायी ऋक्तन्त्र मे **असमासे** के अर्थ मे **असे** प्रयोग की उपलब्धि से यह कहा जा सकता है कि यह किसी प्राचीन वैयाकरण द्वारा स्वीकृत संज्ञा है। सम्भवतः अस्पष्ट होने के कारण लघु होने पर भी आचार्य पाणिनि ने इसका प्रयोग अपने शब्दानुशासन मे नहीं करना चाहा।

तृतीय हेतु-यदि गणों मे सूत्र रचना को स्थान देने की शैली आचार्य पाणिनि की होती तो ऐसे बहुत से सूत्र अष्टाध्यायी मे हैं, जिन्हें गणपाठ के उन उन प्रकरणों के गणों में गणसूत्र के रूप मे रखकर अष्टाध्यायी के कलेवर को पर्याप्त संक्षिप्त किया जा सकता था, फिर पाणिनि ने ऐसा क्यों नहीं किया? उदाहरण के लिए **कार्तकौजपादि** गण मे **आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासी,** (६।२।३६) **कल्याण्यादि** गण में **कुलटाया वा** (४।१।१२७), **बाह्वादि** गण में **सुधातुरकङ् च** (४।१।९७) तथा **गवादि** गण मे **कम्बलाच्च संज्ञायाम्** (५।१।३) सूत्रों को बड़ी सुगमता से ठीक उसी प्रकार उपन्यस्त किया जा सकता था, जिस प्रकार अन्य अनेक गणसूत्र विभिन्न गणों मे दृष्टिगोचर होते है। इस कारण हमें ऐसा प्रतीत होता है कि गणपाठ मे सूत्ररचना की पद्धति आचार्य पाणिनि की नहीं है।

चतुर्थ हेतु-यदि तथाकथित गणसूत्रों और अष्टाध्यायी के सूत्रों का

---

१. गणपाठ ५। १। १२८॥ २. गणपाठ ५। १। १३०॥

३. यथा—असमासे निष्कादिभ्यः ५। १। २०॥ युजेरसमासे ७। १। ७१॥ उपसर्गादसमासेऽपि० ८। ४। १४॥

प्रवक्ता एक ही व्यक्ति आचार्य पाणिनि है, ऐसा मान लिया जाए तो अष्टाध्यायी के अनेक सूत्र पुनरुक्ति दोष से दूषित होने हुए सर्वथा अनावश्यक सिद्ध होंगे, जिनका समाधान **प्रपञ्चार्थम्** कह देने मात्र से कथमपि सम्भव नहीं हो सकेगा। उस अवस्था में जब कि अष्टाध्यायी के सूत्रों की रचना के पूर्व ही गणपाठ की पूरी पूरी व्यवस्था अथवा निर्धारणा हो चुकी थी, अनावश्यकता का दोष अष्टाध्यायी के तत्तत् सूत्रों के सिर पर ही पड़ेगा।

उदाहरण के लिए **सर्वादि** गण मे गणसूत्रों के रूप मे **पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायां संज्ञायाम्, स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्** तथा **अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः** इन तीन वाक्यों के विद्यमान होते हुए अष्टाध्यायी के इसी प्रकरण में तथा इसी शब्दावली के साथ पाणिनि ने इन्हें तीन सूत्रों[1] के रूप में क्यों स्थान दिया, यह प्रश्न सर्वथा अनुत्तरणीय है। ठीक इसी प्रकार **स्वरादि** गण मे **कृन्मकारसन्ध्यक्षरान्तोऽव्ययीभावश्च क्त्वातोसुन्कसुनः** तथा **तसिलादयस्तद्धिता एधाच्पर्यन्ताः** इन गणसूत्रों के रहते हुए अष्टाध्यायी के इसी प्रकरण मे सर्वथा इसी अभिप्राय वाले क्रमशः **कृन्मेजन्त** (१ । १ । ३९), **क्त्वातोसुन्कसुनः** (१ । १ । ४०) **तद्धितश्चासर्वविभक्तिः** (१ । १ । ३८) तथा **अव्ययीभावश्च** (१ । १ । ४१) सूत्रों की स्थिति भी सर्वथा अनावश्यक सिद्ध हो जाती। इसके लिए ढूंढने पर भी कोई समाधान उपलब्ध न हो सकेगा।

यहीं पुनरुक्तियों के प्रसङ्ग मे एक और गणसूत्र को प्रस्तुत करना उचित होगा, परन्तु उसकी पुनरुक्ति पूर्वनिर्दिष्ट पुनरुक्ति वाले स्थलों की अपेक्षा कुछ विलक्षण है, तथा कुछ गम्भीर विचार करने पर ही स्पष्ट हो पाती है। पाणिनि का सूत्र है–**षिद्गौरादिभ्यश्च** (४ । १ । ४१)। इस सूत्र द्वारा षित्प्रत्ययान्त शब्दों तथा गौरादि गण में पठित शब्दों से स्त्रीलिङ्ग को व्यक्त करने के लिए **ङीष्** प्रत्यय का विधान किया जाता है। यह गौरादि गण आकृतिगण है। अतः आकृतिगणता के आधार पर सभी अभिप्रेत शब्दों से स्त्रीलिङ्ग मे ङीष् प्रत्यय का विधान किया जा सकता है। इस प्रकार में गौरादिगण मे उपलब्ध होने वाला **पिप्पल्यादयश्च** गणसूत्र और उसके उदाहरणभूत **पिप्पली, हरीतकी, कोशातकी** इत्यादि गण में पठित शब्द

---

१. पा० १।१।३४, ३५, ३६ ॥

विचारणीय हैं। यह स्पष्ट है कि **पिप्पल्यादि** गण की सत्ता तथा तदाश्रयभूत **पिप्पल्यादयश्च** गणसूत्र के रहते हुए पाणिनि द्वारा गौरादि गण का निर्धारण तथा **षिद्गौरादिभ्यश्च** (४।१।४१) का गौरादि पद पुनरुक्त होने से अनावश्यक हो जाता है। **पिप्पल्यादयश्च** गणसूत्र तथा तदाश्रित पिप्पल्यादि गण का प्रवचन पाणिनि से प्राचीन किसी अन्य आचार्य द्वारा किया गया था, इसका हम पूर्व प्रतिपादन कर चुके हैं।[1]

अनेक ऐसे गणसूत्र भी उपलब्ध होते हैं जिनके रहते हुए उसी गण मे पठित अनेक शब्दों को अनावश्यक मानना पड़ता है। यथा—**नन्द्यादि** (३।१।१३४) गण में **नन्दिवाशिमदिदूषिसाधिवर्धिशोभिरोचिभ्यो ण्यन्तेभ्यः संज्ञायाम्** तथा **सहितपिदमेः संज्ञायाम्** ये दो सूत्र मिलते होते हैं। इनके साथ ही उदाहरणभूत **नन्दनः वाशनः मदनः** इत्यादि तथा **सहनः पतनः दमनः** शब्दों का पाठ भी गणपाठ मे दृष्टिगोचर होता है। **ग्रह्यादि** (३।१।१३४) गण में **याचिव्याहृसंव्याहृव्रजवदवसां प्रतिषिद्धानाम्** तथा **अचामचित्तकर्तृकाणाम्** इन दो गणसूत्रों के साथ साथ **अयाची अव्याहारी** तथा **अकारी अहारी** इत्यादि उदाहरणों का पाठ भी देखा जाता है। ठीक इसी प्रकार **अपूपादि** (५।१।४) गण में **अन्नविकारेभ्यश्च** इस गणसूत्र के रहते हुए **अपूप तण्डुल पृथुक** इत्यादि शब्दों का पाठ सर्वथा अनावश्यक सिद्ध होता है।

पाणिनीय गणपाठ के पूर्व निर्दिष्ट स्थानों में गणसूत्रों के रहते हुए उदाहरणभूत शब्दों का पाठ स्वीकार करने पर गणसूत्र अनावश्यक सिद्ध होंगे। गणपाठ की शैली को देखते हुए गणों मे शब्दों का पाठ ही स्वाभाविक कहा जासकता है, सूत्रों का पाठ तो अस्वाभाविक ही होगा। शब्दों का पाठ होने पर तत्तद् गणसूत्रों की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

वस्तुतः इस प्रकार की पुनरुक्तियों से जहां यह प्रमाणित होता है कि ये गणसूत्र अष्टाध्यायी के प्रवक्ता आचार्य पाणिनि द्वारा रचित नहीं हैं, वहां यह सम्भावना भी उपस्थित होती है कि गणशैली का विशेष उपयोग न करने वाले पाणिनि से प्राचीन किसी अचार्य के व्याकरण के ये विभिन्न सूत्र हैं, जिनके उदाहरणों को पाणिनि ने अपने गणपाठ के उन उन प्रकरणों में समाविष्ट किया था।

---

१. द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ ३३–३४।

पुनरुक्ति की यह समस्या यहीं समाप्त नहीं होती। गणपाठ मे अनेक ऐसे भी गणसूत्र उपलब्ध होते हैं, जिन की उपस्थिति में कात्यायन की अनेक वार्तिकें भी निरर्थक हो जाती है। यथा–**षिद्भिदादिभ्योऽङ्** (३।३।१०४ सूत्र की व्याख्या मे वार्तिक रूप से तथा भिदादिगण मे गणसूत्र के रूप से **भिदा विदारणे, छिदा द्वैधीकरणे, आरा शस्त्र्याम्** आदि वाक्य पठित हैं **शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः**[1] **आचार्यादणत्वं च**[2] **अर्हतो नुम् च**[3] ये कात्यायन की वार्तिकें क्रमशः **अजादि** (४।१।४) **क्षुभ्नादि** (८।४।३९) तथ **ब्राह्मणादि** (५।१।१२३) गण मे गणसूत्र के रूप में भी पठित मिलत है। **सदक्काण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पात् प्रतिषेधः**,[4] **संभस्त्राजिनशणपिण्डेभ्यः फलात् प्रतिषेधः**[4] तथा **मूलान्नञः**[4] ये कात्यायन की तीनों वार्तिक **अजादि** (४।१।४) गण मे गणसूत्र के रूप में उपलब्ध होती हैं **चरणसम्बन्धेन निवासलक्षणोऽण्**[5] वार्तिक **गहादि** (४।२।१३७) गण में **चाण चरणे** इस गणसूत्रांश के रूप मे देखी जा सकती है। **सेनाय नियमार्थं वा**[6] वार्तिक **खण्डिकादि** (४।२।४४) गण में, **क्षुद्रमालवात् सेनासंज्ञायाम्** गणसूत्र के रूप मे भी उपलब्ध है। इसी प्रकार की **नृनरा भ्यामञ् वचनम्**[7] वार्तिक भी **शार्ङ्गरवादि** (४।१।७३) गण में **नृनरयोर्वृद्धिश्च** इस गणसूत्र के रूप में द्रष्टव्य है।

गणसूत्रों के विषय में हमारा मत

पुनरुक्तियों की उपर्युक्त लम्बी सूची हमारी उपर्युक्त धारणा को पुष्ट करती है कि पाणिनीय गणपाठ में उपलब्ध होने वाले गणसूत्र अपाणिनीय हैं। हम इस बात पर बल देना नहीं चाहते कि ये सभी गणसूत्र पाणिनि से प्राचीन किसी या किन्हीं आचार्यों के हैं, अथवा सभी अर्वाचीन किसी या किन्हीं आचार्यों द्वारा कात्यायन आदि वैयाकरणों के वचनों के अनुकरण पर स्वरूप-निर्मिति में समर्थ हुए हैं। संभवतः दोनों प्रकार की स्थितियो का सम्बन्ध गणसूत्रों से स्थापित किया जा सकता है। अर्थात् कुछ गणसूत्र

---

१. महा० ४।१।४॥
२. महा० ४।१।४६॥
३. महा० ५।१।१२४॥
४. महा० ४।१।६४॥
५. महा० ४।२।१३८॥
६. महा० ४।२।४५॥
७ महा० ४।४।४६॥

प्राचीन आचार्यों के व्याकरणों के सूत्र रहे हों। उन के उदाहरणों का उन उन गणों में समावेश कर देने पर वृत्तिकारों के प्रमाद से वे सूत्र भी पाणिनीय गणपाठ में उल्लिखित होने चले आ रहे हों। यथा **नन्द्यादि** अथवा **गौरादि** गण में आए हुए गणसूत्र। साथ ही बहुत से ऐसे भी गणसूत्र हैं जो कात्यायन की विभिन्न वार्तिकों से प्रभावित हैं, अथवा दूसरे शब्दों मे कात्यायन के तत्तत् प्रकरणों से सम्बद्ध वार्तिकों के अनुकरण पर विभिन्न गणसूत्रों की रचना हुई है।

आचार्य चन्द्रगोमी के अनुकरण पर जिस प्रकार काशिकाकार जैसे वृत्तिकारों ने पाणिनि के अनेक सूत्रों मे कात्यायन की वार्तिकों का सम्मिश्रण उन उन की न्यूनता को पूर्ण करने के लिए किया[1], उसी प्रकार कात्यायन की कुछ वार्तिकों को गणसूत्र का रूप देकर पाणिनीय गणपाठ मे यदि वृत्तिकारों द्वारा आदृत किया गया हो तो इसमे आश्चर्य की क्या बात हो सकती है। इस प्रकार के गणसूत्रों को पाणिनि से अर्वाचीन माना जा सकता है।

नागेश भट्ट का साक्ष्य—पाणिनीय व्याकरण के मर्मज्ञ विद्वान् नागेश भट्ट ने अनेक स्थानों पर गणसूत्रों की अपाणिनीयता, अनार्षता एवं अप्रामाणिकता की स्पष्ट सूचना दी है।[2]

धातुगणसूत्र—गणसूत्रों की अपाणिनीयता के प्रसंग मे धातुपाठ मे मिलने वाले **प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च**[3] तथा **तत्करोति तदाचष्टे**[4] जैसे गणसूत्रों की ओर भी हम विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक समझते हैं। इन गणसूत्रों को भी नागेश भट्ट ने इस कारण प्रक्षिप्त माना है कि ये गणसूत्र कात्यायन की वार्तिकों के रूप में भी महाभाष्य में मिलते हैं।[5] और इस रूप में इन्हें प्रक्षिप्त एवं अप्रामाणिक मानते हुए **सत्यापपाश** (३ । १ । २५) इस पाणिनीय सूत्र मे **पाश** आदि शब्दों के ग्रहण की सार्थकता दर्शाई है।[6]

---

१. द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ ४१।

२. महा० उद्योत टीका ४ । २ । ४५, १३८; ४ । ४ । ४६ ।

३. क्षीरतरङ्गिणी १० । २६६ ॥ ४. क्षीरतरङ्गिणी १० । २६७, २६८ ॥

५. महा० ३ । १ । २६ ॥

६. प्रातिपदिकाद् धात्वर्थ इति ··· हेतुमति चेत्यत्र वार्तिकादिदं गणसूत्रमप्रामाणिकम्।

कात्यायन तथा पतञ्जलि की दृष्टि में पाणिनीय गणपाठ

अपनी पुस्तक 'सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर' में एस० के० बेल्वालकर महोदय ने कात्यायन की वार्तिकों के विषय मे कहा है—

कात्यायन की कृति-वार्तिकों का प्रयोजन था पाणिनि के उन सूत्रों मे परिवर्तन, परिवर्धन तथा संशोधन प्रस्तुत करना, जो (कात्यायन के समय मे) आंशिकरूप मे या सर्वांशतः अप्रयोजनीय हो गए थे।''[1]

बेल्वालकर महोदय के उपरोक्त कथन से कोई भी व्याकरण का विद्वान् असहमत नही हो सकता। पाणिनि के जिस जिस सूत्र मे आलोचना के लिये थोड़ा सा भी अवकाश था, वहां वहां सर्वत्र कात्यायन ने अपनी वार्तिकों द्वारा, संशोधन, परिवर्धन और यथावश्यक परिवर्तन करने के लिये, अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। यह दूसरी बात है कि अनेक स्थलों पर कात्यायन के द्वारा प्रस्तुत किये गये विचारों की अनावश्यकता या निस्सारता का सयुक्तिक प्रतिपादन करते हुए महाभाष्यकार पतंजलि ने पाणिनि के सूत्रों की महत्ता को पुनः प्रतिष्ठापित किया है। वास्तविकता तो यह है कि तत्कालीन संस्कृत-भाषा की प्रत्येक गतिविधि की विवेचनात्मक कसौटी पर अष्टाध्यायी के लगभग प्रत्येक सूत्र की, सच्चे आलोचक के समान खरी परीक्षा करते हुए पाणिनि के इन दोनों उत्तराधिकारियों ने महान् आचार्य पाणिनि के वास्तविक महत्त्व को विद्वानों के सम्मुख उपस्थित करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

अष्टाध्यायी के सूत्रों पर विचार करते हुए इन दोनों मनीषियों ने गण-सम्बन्धी सूत्रों तथा कहीं कहीं किसी किसी गण गण के विशिष्ट शब्दों के उस

अत एव सत्यापपाशेति सूत्रे पाशादि ग्रहणं चरितार्थम्। महा० उद्योत टीका ३। १। २१॥ इसी प्रकार ३। १। २६ की उद्योत टीका में भी लिखा है।

१. कात्यायन's work, the वार्तिक's were ment to correct, modify or supplement the rules of पाणिनि' whereever they were or had become partially or totally inapplicable. पृष्ठ २९।

उस गण में पढ़े जाने के प्रयोजन अथवा उन के साथ किसी उपाधि वा नियमन (शर्त) के संयोजन की आवश्यकता, अथवा किसी गण के स्वरूप आदि विषयों पर अपने उपादेय विचार प्रस्तुत किये हैं। इन विचारों का संकलन एवं अध्ययन हमने अपने आलोचनात्मक अध्ययन में यथावसर विस्तार से किया है।[1] यहां इनके गणपाठ-सम्बन्धी प्रमुख विचारों को ही विहंगम-दृष्ट्या प्रस्तुत किया जाता है—

१—**सर्वादि** गण मे पठित **पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम-संज्ञायाम्**' इत्यादि गणसूत्रों को पुनः अष्टाध्यायी के इसी प्रकरण के सूत्रों में इसी शब्दावली के साथ **स्थान** देने की आवश्यकता पर विचार।[2]

२—**प्रादिगण** मे, इसके पठित गण होने के कारण, '**मरुत्**' तथा '**श्रत्**' शब्दों का उपसंख्यान।[3]

३—**तिष्ठद्गवादि** गण के प्रारम्भिक शब्द **तिष्ठद्गु** का **काल विशेष** में निर्धारण, तथा इसी गण के **खलेयव** आदि कुछ शब्दों का **अन्यपदार्थ** में निश्चितीकरण।[4]

४—**साक्षात्प्रभृति** शब्दों अथवा **साक्षादादि** गण के शब्दों तथा **श्रेण्यादि** गण के शब्दों के साथ **च्व्यर्थ वचन** की उपाधि का संयोजन। अर्थात् जब वे शब्द **च्व्यर्थ=अभूततद्भाव** के वाचक हों तभी उन्हें इस गण मे पठित मान कर निपात तथा गति संज्ञा का नियमन।[5]

५—**गवाश्वप्रभृति** शब्दों के यथोच्चारित स्वरूप में ही **द्वन्द्ववृत्त** की स्थिति का प्रकाशन।[6]

---

१. यह अंश गणपाठ के आदर्श संस्करण के अन्त में छपेगा।

२. अवरादीनां पुनः सूत्रपाठे ग्रहणानर्थक्यम् गणे पठितत्वात्। महा० नवा० १।१।३३॥

३. मरुच्छब्दस्योपसंख्यानम्। श्रच्छब्दस्योपसंख्यानम्। महा० १।४।५८॥

४. तिष्ठद्गुः कालविशेषे। खलेयवादीनि प्रथमान्तान्यन्यपदार्थे। महा० २।१।१७॥

५. साक्षात्प्रभृतिषु च्व्यर्थवचनम्। महा० १।४।७४॥ श्रेण्यादिषु च्व्यर्थ-वचनम्। महा० २।१।५९॥

६. गवाश्वप्रभृतिषु यथोच्चारितं द्वन्द्ववृत्तम्। महा० २।४।११॥

६—**विदादिगण** के अवान्तर गण–**गोपवनादि** के लिये **प्रागहरितादिभ्यः**– 'हरित' आदि शब्दों से पहले पहले गोपवनादिगण की स्थिति स्वीकरणीय है, इस बात की घोषणा।[1]

७—**लोहितादि** गण के केवल प्रारम्भिक **लोहित** शब्द को छोड़ कर अन्य सभी शब्दों को **भृशादि** गण में पढ़ देने का प्रस्ताव।[2]

८—**पचादि** गण (आकृतिगण) मे पठित शब्दों के प्रयोजन पर विचार।[3]

९—**भिदादि** गण के कुछ शब्दों के अर्थों का नियमन।[4]

१०–**अजादि** के **शूद्रा** शब्द के साथ **अमहत्पूर्वा** नियमन की संयोजना।[5]

११–**गर्गादि** गण के अवान्तर गण **कण्वादि** में पठित **शकल** शब्द के, गर्गादि के दूसरे अवान्तर गण **लोहितादि** में भी उपसंख्यान करने का प्रस्ताव।[6]

१२–श्लोकवार्तिककार द्वारा 'शकल' शब्द के लोहितादि गण मे भी प्रकारान्तर से—पाठ-विपर्यय द्वारा प्रवेश करा कर, उपर्युक्त प्रस्ताव का समाधान।[7]

१३–क्रौड्यादि गण में ही **गोत्रावयवात्** इस पाणिनि सूत्र के उदाहरणभूत सभी शब्दों का समावेश कर देने तथा इस प्रकार **गोत्रावयवात्** सूत्र की अनावश्यकता का प्रतिपादन।[8]

१४–**कुर्वादि** गण में पठित **वामरथ** शब्द के लिये, स्वर सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त **कण्वादिवद्भाव** का विधान।[9]

---

१. गोपवनादिप्रतिषेधः प्राग् हरितादिभ्यः। महा० २। ४। ६७॥

२. लोहितडाज्भ्यः क्यष्वचनं भृशादिष्वितराणि। महा० ३। १। १३॥

३. पचाद्यनुक्रमणमनुबन्धासंजनार्थम्। अपवादबाधनार्थं च। महा० ३। १। १३४॥

४. भिदा विदारणे। छिदा द्वैधीकरणे। आरा शस्त्र्याम्। धारा प्रपाते। गुहा गिर्योषध्योः। महा० ३। ३। १०४॥

५. शूद्रा चामहत्पूर्वा। महा० ४। १। ४॥

६. लोहितादिषु शाकल्यस्योपसंख्यानम्। महा० ४। १। १८।

७. कण्वात्तु शकलः पूर्वः कतादुत्तर इष्यते।
पूर्वोत्तरौ तदन्तादी ष्फाणौ तत्र प्रयोजनम्॥ महा० ४। १। १८॥

८. सिद्धं तु रौढ्यादिषूपसंख्यानात्। महा० ४। १। ७९॥

९. वामरथस्य कण्वादिवत् स्वरवर्जम्। महा० ४। १। १५१॥

१५–भिक्षादिगण में पठित **युवति** शब्द की अनर्थकता का प्रतिपादन ।[1]

१६–**खण्डिकादि** गण में पठित **क्षुद्रकमालव** शब्द से गणकार आचार्य पाणिनि के विभिन्न अभिप्रायों का श्लोकवार्तिककार द्वारा ज्ञापन ।[2]

१७–**कच्छादि** गण मे पठित **साल्व** शब्द के पाठ की अनर्थकता का प्रतिपादन ।[3]

१८–**गहादि** गण मे पठित **मध्य** शब्द के अर्थ का नियमन ।[4]

१९–**बिल्वादि** गण में पठित **गवीधुका** शब्द के इस गण में पाठ किये जाने के प्रयोजन का प्रतिपादन ।[5]

२०–**गवादि** गण मे उपन्यस्त **नाभि नभं च** इस गणसूत्र पर वैयाकरण दृष्टिकोण से विचार ।[6]

२१–**व्युष्टादि** गण में **अग्निपद** आदि कुछ शब्दों के उपसंख्यान का प्रस्ताव ।[7]

२२–**व्रीह्यादि** गण के शब्दों का विभिन्न कार्यों की दृष्टि से **व्रीह्यादि, शिखादि** तथा **यवखदादि** तीन गणों में विभाजन ।[8]

२३–**स्थूलादि** गण में **चञ्चद्** तथा **बृहत्** शब्दों के उपसंख्यान का प्रस्ताव ।[9]

२४–**युक्तारोह्यादि** गण में पठित **एकशितिपात्** शब्द से गणकार पाणिनि

---

१. भिक्षादिषु युवतिग्रहणानर्थक्यं पुंवद्भावस्य सिद्धत्वात् प्रत्ययविधौ । महा० ४ । २ । ३८ ॥

२. ज्ञापकं स्यात्तदन्तत्वे तथा चापिशलेर्विधिः ।
सेनायां नियमार्थं वा यथा बाध्येत वाञ् वुञा ॥ महा० ४ । २ । ४५ ॥

३. साल्वानां कच्छादिषु पाठोऽण्विधानार्थः, नवाऽपदातिगोयवागूग्रहणमवधारणार्थम् । महा० ४ । २ । १३३ ॥

४. गहादिषु पृथिवीमध्यस्य मध्यमभावः । महा० ४ । २ । १३८ ॥

५. बिल्वादिषु गवीधुकाग्रहणं मयट्प्रतिषेधार्थम् । महा० ४ । १ । १३४ ॥

६. नाभेर्नभभावे प्रत्ययानुपपत्तिः प्रकृत्यभावात्…………सिद्धं तु शाखादिषु वचनात् ह्रस्वत्वं च । महा० ५ । १ । २ ॥

७. अण्प्रकरणे अग्निपदादिभ्यः उपसंख्यानम् । महा० ५ । १ । ९७ ॥

८. शिखादिभ्य इनिर्वाच्य इकन्यवखदादिषु । महा० ५ । २ । ११६ ॥

९. कन्प्रकरणे चंचद्बृहतोरुपसंख्यानम् । महा० ५ । ४ । ३ ॥

की विशिष्ट प्रवृत्ति का ज्ञापन ।[1]

२५–**पृषोदरादि** गण में समन्वित हो सकने वाले कुछ शब्दों के प्रकृति प्रत्यय की कल्पना ।[2]

२६–**द्वारादि** गण में **स्वाध्याय** शब्द को गणकार ने निश्चित रूप से व्यवस्थित नहीं किया था, ऐसी घोषणा ।[3]

२७–**कस्कादि** गण में **भ्रातुष्पुत्र** शब्द के पाठ से गणप्रवक्ता पाणिनि के विशिष्ट अभिप्राय का ज्ञापन ।[4]

२८–**सुषामादि** तथा **क्षुभ्नादि** गणों की आकृतिगणता का प्रतिपादन ।[5]

इन विभिन्न विचारों के अतिरिक्त पाणिनि के सूत्रों के आशय को सर्वथा स्पष्ट करने तथा किन्हीं सूत्रों की न्यूनता की पूर्ति के लिये वार्तिककार तथा श्लोकवार्तिकार ने, पाणिनि-निर्धारित गणों से अतिरिक्त, अनेक गणों का निर्धारण किया है । इनकी सूची नीचे दी जाती है—

१–**शाकपार्थिवादि गण** (महा० २ । १ । ६८) ।

२–**प्रकृत्यादि गण** (महा० २ । ३ । १८) ।

३–**मूलविभुजादि गण** (महा० ३ । २ । ५) ।

४–**पार्श्वादि गण** (महा० ३ । २ । १५) ।

५–**सम्पदादि गण** (३ । ३ । १०८) ।

६–**खलादि गण** (महा० ४ । २ । ५१) ।

७–**परिमुखादि गण** (महा० ४ । ३ । ५८) ।

८–**अध्यात्मादि गण** (महा० ४ । ३ । ६०) ।

९–**प्रभूतादि गण** (महा० ४ । ४ । १) ।

१०–**माशब्दादि गण** (महा० ४ । ४ । १०) ।

---

१. एकशितिपात्-स्वरवचनं तु ज्ञापकं निमित्तस्वरबलीयस्त्वस्य । महा० २ । १ । १ ॥

२. दिक्शब्देभ्यस्तीरस्य तारभावो वा, इत्यादि । द्र० महा० ६ । ३ । १०८ ॥

३. कः पुनरर्हति स्वाध्यायशब्दं द्वारादिषु पठितुम् । महा० ७ । ३ । ४ ॥

४. भ्रातुष्पुत्रग्रहणं ज्ञापकं एकदेशनिमित्तात् षत्वप्रतिषेधस्य । महा० ८।३।४१ ॥

५. अविहितलक्षणो मूर्धन्यः सुषामादिषु । महा० ८।३।९८ ॥
अविहितलक्षणो णत्वप्रतिषेधः क्षुभ्नादिषु । महा० ८ । ४ । ३९ ॥

११–**परदारादि गण** (महा० ४।४।१) ।
१२–**सुस्नातादि गण** (महा० ४।४।१) ।
१३–**अवान्तरदीक्षादि गण** (महा० ५।१।९४) ।
१४–**महानाम्न्यादि गण** (महा० ५।१।९४) ।
१५–**अग्निपदादि गण** (महा० ५।१।९७) ।
१६–**पुण्याहवाचनादि गण** (महा० ५।१।१११) ।
१७–**चातुर्वर्ण्यादि गण** (महा० ५।१।१२४) ।
१८–**ज्योत्स्नादि गण** (महा० ५।२।१०३) ।
१९–**भवदादि गण** (महा० ५।३।१४) ।
२०–**आद्यादि गण** (महा० ५।४।४४) ।
२१–**शकन्ध्वादि गण** (महा० ६।१।९३) ।
२२–**त्रिचक्रादि गण** (महा० ६।२।१९९) ।
२३–**कुक्कुटादि गण** (महा० ६।३।४१) ।
२४–**अण्डादि गण** (महा० ६।३।४१) ।
२५–**पील्वादि गण** (महा० ६।३।१२१) ।
२६–**क्षिपकादि गण** (महा० ७।३।४५) ।
२७–**अहरादि गण** (महा० ८।२।७०) ।
२८–**पत्यादि गण** (महा० ८।२।७०) ।
२९–**इरिकादि गण** (महा० ८।४।६) ।
३०–**गिरिनद्यादि गण** (महा० ८।४।१०) ।

कात्यायन द्वारा निर्धारित इन गणों का पाणिनि के बाद के चन्द्रगोमी प्रभृति वैयाकरणों ने, विशेषतः किसी अज्ञात व्याकरण से सम्बन्ध रखने वाली गणरत्नमहोदधि के रचियता एवं विशिष्ट विद्वान् वर्धमान ने अपने गणपाठ में अधिकाधिक रूप में अपनाया है और इन गणों का अपने सूत्रपाठ में उपयोग भी किया है।

कात्यायन की कुछ वार्तिकों तथा पतंजलि के द्वारा किये गये, उनकी व्याख्याओं के अधार पर अष्टाध्यायी के उत्तरवर्ती व्याख्याताओं तथा वृत्तिकारों ने पाणिनीय गणपाठ में अनेक गणसूत्रों तथा शब्दों को ठीक उसी प्रकार मिला दिया है, जिस प्रकार कात्यायन की कुछ वार्तिकों तथा वार्तिकांशों को अष्टाध्यायी के सूत्रों में। इस दृष्टि से गणपाठ के संशोधन में

कात्यायन की इस प्रकार की वार्तिकें विशेष महत्त्व की हैं। इनका निर्देश यथावसर किया जाएगा।[1]

जयादित्य-वामन और पाणिनीय गणपाठ

पाणिनीय व्याकरण सम्प्रदाय में काशिका को बहुत ही प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है। इसका कारण है–उपलब्ध अन्य वृत्तियों की अपेक्षा इसकी प्राचीनता, व्याकरण-शास्त्र की परिनिष्ठता तथा प्राचीन मतों की संरक्षणता। कात्यायन के उपसंख्यानों (वार्तिकों) तथा पतञ्जलि की इष्टियों से पूर्णतया सुसम्पन्न तथा व्याकरण के साक्षात् शरीर के रूप मे प्रकट होती हुई पाणिनीय सूत्रों के गूढ़ अर्थों की सुप्रकाशिका काशिका पाणिनीय-तन्त्र के अध्ययन के लिए निश्चित ही नितान्त उपादेय ग्रन्थ है।[2] प्रो० कीथ ने भी लिखा है– "पाणिनीय अष्टाध्यायी की एक टीका जयादित्य वामन कृत काशिका वृत्ति अपनी सूचना-बहुलता, तुलनात्मक शुद्धता, तथा पाणिनीय ग्रन्थ में किये गए परिवर्तनों की साक्ष्यता के कारण प्रशंसा का पात्र है।[3]

न केवल इतना ही, अपितु अपने समय में उपलब्ध व्याकरण विषयक सभी कृतियों का आलोडन एवं आलोचन करके अनेकत्र विप्रकीर्ण सामग्री में से उपादेय सारभूत विषयों का अल्प शब्दों में संकलन करना, काशिका की अपनी ऐसी महती विशेषता है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती। काशिका के आधारभूत पाणिनीय संप्रदाय के ग्रन्थ थे—उस समय प्रचलित कतिपय

---

१. गणपाठ के आलोचनात्मक अंश में। यह गणपाठ के आदर्श संस्करण के अन्त में छपेगा।

२. इष्ट्युपसंख्यानवती शुद्धगणा विवृतगूढसूत्रार्था।
व्युत्पन्नरूपसिद्धिर्वृत्तिरियं काशिका नाम ॥ २ ॥
व्याकरणस्य शरीरं परिनिष्ठितशास्त्रकार्यमेतावत्।
शिष्टः परिकरबन्धः क्रियतेऽस्य ग्रन्थकारेण ॥ ३ ॥ आरम्भ के श्लोक।

3. One commentary of पाणिनि deserves praise for its extent of information, its comparative clearness and its evidence of changes in पाणिनि's text, the काशिकावृत्ति of जयादित्य and वामन. ५ हिस्टरी आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ४२६।

वृत्तियां, महाभाष्य, धातुओं के संग्रह के व्याख्यानभूत धातुपारायण, और प्रातिपादिकों के समूह, दूसरे शब्दों में गणपाठ के व्याख्यानभूत नामपारायण।[1]

लगभग ६५० ईस्वी में लिखी गई[2] यह काशिका वृत्ति, अष्टाध्यायी की सम्प्रति उपलभ्यमान सभी वृत्तियों में प्राचीन है। हरदत्त इस बात की सूचना देता है कि काशिका से प्राचीन वृत्तियों में गणपाठ का संग्रह नहीं था।[3] काशिका में पाणिनीय गणपाठ न केवल पूर्णरूप में अपितु अपेक्षाकृत शुद्धरूप में मिलता है। इस की घोषणा स्वयं काशिकाकार ने **शुद्धगणा** विशेषण द्वारा दी है।[4]

काशिकाकार द्वारा की गई **शुद्धगणा** की घोषणा का एक अभिप्राय "कात्यायन तथा पतञ्जलि द्वारा उपस्थित किए गए तथा आचार्य चन्द्रगोमी द्वारा अपने व्याकरण में स्वीकार किए गए पाणिनीय गणपाठ विषयक संशोधनों के अनुसार विशुद्ध अथवा अपनी दृष्टि से पूर्ण गणपाठ का संपादन करना" भी सम्भव है। तुलनात्मक अध्ययन से इस बात की पुष्टि होती है। इस प्रकार यह सर्वथा सत्य है कि काशिकाकार को इस संकलन में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। परन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि पाणिनीय गणपाठ में कात्यायन की अनेक वार्तिकों एवं उपसंख्यानों तथा पतञ्जलि के वचनों और यहां तक कि चन्द्रगोमी के भी एक सूत्र को गणपाठ में स्थान प्राप्त होगया।[5] इससे निश्चित ही पाणिनीय गणपाठ की मौलिकता को धक्का लगा।

काशिकाकार की यह नीति न केवल पाणिनीय गणपाठ के विषय में ही रही, अपितु पणिनि के सूत्रपाठ को भी उन्होंने पर्याप्त परिवर्तन के साथ उपस्थित किया है। इस तथ्य की पुष्टि कीलहार्न ने भी इस प्रकार की है— "काशिका में मिलने वाला अष्टाध्यायी-ग्रन्थ कात्यायन तथा पतञ्जलि को

---

१. वृत्तौ भाष्ये तथा नामधातुपारायणादिषु।
विप्रकीर्णस्य तन्त्रस्य क्रियते सारसंग्रहः॥ १॥ काशिका, आद्य श्लोक।

२. द्र० सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ३५।

३ वृत्त्यन्तरेषु तु गणपाठ एव नास्ति। प० म० भाग १, पृष्ठ ४।

४. काशिका आद्यश्लोक।

५. वेणुकादिभ्यश्छण् (चां० सूत्र ३।२।६१) को काशिका ४।२।१३८ के गण में।

ज्ञात (अष्टाध्यायी) ग्रन्थ से ५८ सूत्रों के विषय में भिन्न है।[१] प्रो० बेल्वाल्कर ने भी यह स्पष्टरूप से स्वीकार किया है कि चन्द्रगोमी द्वारा प्रस्तुत किए गए सम्पूर्ण संशोधनों को पाणिनीय सम्प्रदाय में अन्तर्भूत करके उपस्थित करना ही काशिकाकार का उद्देश्य था।[२]

अपने इस स्वभाव के परिणामस्वरूप काशिकाकार ने पाणिनीय गणपाठ मे कहां कहां क्या क्या परिवर्तन किया है, यह हम आगे चलकर दिखलायेंगे। परन्तु सभी स्थलों पर काशिकाकार ने आंख मूंदकर उपर्युक्त तीनों आचार्यों की बातें मान ली हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। **लोहितादि गण** के स्वरूप[३] तथा **भिक्षादि गण** में **युवति** शब्द के पाठ[४] की अनर्थकता जैसे कुछ एक स्थल ऐसे भी उपस्थित किए जा सकते हैं, जहां काशिकाकार ने कात्यायन तथा पतञ्जलि के विचारों को कोई महत्त्व नहीं दिया। **युक्तारोह्यादि** गण में पठित **एकशितिपात्** शब्द के विषय में पतञ्जलि के द्वारा की गई घोषणा का काशिकाकार ने स्पष्ट विरोध किया है।[५] साथ ही **कस्कादि** गण में **सर्पिष्कुण्डिका** आदि शब्दों के पाठ के विषय में पारायणिक विद्वानों का विरोध करने वाला भी काशिकाकार ही है।[६]

इस प्रकार जहां अष्टाध्यायी के सूत्रों के गूढ़तम रहस्यों को कुछ ही पङ्क्तियों में प्रस्तुत करने, कात्यायन, पतञ्जलि और चन्द्रगोमी के द्वारा प्रस्तावित विचारों का समुचित समन्वय करके वि नों के समक्ष रखते हुए भी यथावसर अपने स्वतन्त्र विचारों को निर्भीकतापूर्वक उपस्थित करने का पुनीत श्रेय संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में काशिकाकार को ही प्राप्त हुआ है, वहां

---

१. The text of the अष्टाध्यायी as given in the काशिका differs in case of 58 rules from the text known to कात्यायन and पतञ्जलि. सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ३७।

२. The object of the काशिका was to embody in the पाणिनीय system all the improvements that were made by चन्द्रगोमिन्। वही, पृष्ठ वही।

३. द्र० काशिका ३ । १ । १३ ॥ ४. द्र० काशिका ४ । २ । ४५ ॥

५. महा० २ । १ । १ ॥ तथा काशिका ६ । २ । ८१ ॥

६. द्र० काशिका ८ । ३ । ४३ ॥

पाणिनीय गणपाठ की यथोचित सुरक्षा का भी। गणपाठ के संशोधन मे काशिका के महत्त्व की परीक्षा यथावसर आगे की जाएगी।

पाणिनीय गणपाठ के व्याख्याकार[1]

डा० वेल्वाल्कर का यह कथन सर्वांश में ठीक है कि टीकाकारों का ध्यान पाणिनीय गणपाठ की ओर उतना नहीं गया, जितना जाना चाहिए था।[2] यही कारण है कि आज भी जहां धातुपाठ की अनेकों **वृत्तियां**—मैत्रेय रक्षित की धातुप्रदीप, क्षीरस्वामी की क्षीरतरङ्गिणी, तथा माधव की धातुवृत्ति आदि उपलब्ध हैं, वहां गणपाठ की केवल एक ही नगण्य वृत्ति भट्ट यज्ञश्वर की **गणरत्नावली** मिलती है। यह भी विक्रम की बीसवीं शती (सं० १९३१, शाके १७९६)[3] की रचना है। सब से अधिक दुःख की बात तो यह है कि जिन दो एक गणपाठ विषयक ग्रन्थों का उल्लेख कहीं क्वचित् मिलता भी है तो उनमें से एक का भी दर्शन सम्प्रति दुर्लभ है।

१–पाणिनीय-व्याख्यान—पाणिनीय गणपाठ के व्याख्या ग्रन्थों की दृष्टि से यदि अन्वेषण किया जाए तो यह स्वीकार करना होगा कि स्वतः पाणिनि ने ही अपने गणपाठ का व्याख्यानात्मक प्रवचन किया था। इस धारणा की पुष्टि में **नद्यादि** गण में पठित **पूर्वनगरी** शब्द के विषय में काशिकाकार की उक्ति—

केचित्तु पूर्वनगिरि इति पठन्ति, विच्छिद्य (पूर्-वन-गिरि) च प्रत्ययं कुर्वन्ति–पौरेयम्, वानेयम्, गैरेयम्। तदुभयमपि दर्शनं प्रमाणम्। ४।२।९७॥

तथा न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि और पदमञ्जरीकार हरदत्त की व्याख्याभूत पङ्क्ति—

उभयथाप्याचार्येण शिष्याणां प्रतिपादितत्वात्।[4]

उपस्थित की जा सकती है। इसी प्रकार **क्रौड्यादि** गण में पठित

---

१. इस अगले प्रकरण के लिए सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग २ अ० २३ भी द्रष्टव्य है।

२. सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ५३।

३. शाके रसाङ्कमुनिभूमिते अब्दे। गणरत्नावली, पत्रा १२३।

४. न्यास ४।२।९७ भाग १ पृष्ठ ९५९; प० मं० ४।२।९७॥

चैतयत शब्द के विषय में वर्धमान का कथन—

पाणिनिस्तु चित संवेदने इत्यस्य चैतयत इत्याह (गण० महो० पृष्ठ ३७) भी उपर्युक्त धारणा की पुष्टि करता है।

२–**निपाताव्ययोपसर्ग-वृत्ति**–गणपाठ मे आए निपातों, एवं उपसर्गों की व्याख्या कुछ विद्वानों ने की थी।[1]

इस नाम का एक वृत्ति ग्रन्थ क्षीरस्वामी ने भी लिखा था। इस ग्रन्थ का **तिलक** कृत व्याख्या सहित एक हस्तलेख अडियार (मद्रास) के पुस्तकालय मे सुरक्षित है।[2]

३–**गण-वृत्ति**–पाणिनीय गणपाठ की व्याख्या के रूप मे कुछ विद्वानों ने **गणवृत्ति** नाम के कतिपय ग्रन्थों की रचना की थी।

गणवृत्ति नाम का एक ग्रन्थ क्षीरस्वामी ने भी लिखा था।[3] कई विद्वानों के मतानुसार क्षीरस्वामी कृत अमरकोश तथा क्षीरतरङ्गिणी के आरम्भ में समानरूप से पठित श्लोक के **षड्वृत्तयः कल्पिताः** अंश में गणवृत्ति का भी संकेत विद्यमान है।

धातुवृत्तिकार माधव ने भी किसी गणवृत्ति के अनेकों उद्धरण उपस्थित किये हैं।[4]

पुरुषोत्तमदेव विरचित भाषावृत्ति के संपादक श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती ने उक्त ग्रन्थ की भूमिका (पृष्ठ १) में पुरुषोत्तमदेव विरचित गणवृत्ति की सूचना भी दी है।

४–**गण-व्याख्यान**–मल्लिनाथ ने रघुवंश[5] किरातार्जुनीय[6] तथा शिशुपालवध[7] की टीका में कई स्थानों पर **गणव्याख्यान** नाम के किसी ग्रन्थ के ऐसे उद्धरण प्रस्तुत किए हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त ग्रन्थ में

---

१. सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ५३।

२. भट्टक्षीरस्वाम्युत्प्रेक्षितनिपाताव्ययोपसर्गीये तिलककृता वृत्तिः सम्पूर्णेति भद्रं पश्येम भद्रं प्रचरेम। व्याकरण-सूचीपत्र, संख्या ४८७।

३. सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ५३।

४. धातुवृत्ति, पृष्ठ २६२, ४१६, ४१७।

५. रघुवंश ८। ४८; १२। १६॥ ६. किरात २। ३०॥

७. शिशुपालवध १। ३६॥

गणपाठ के शब्दों के विषय में, उनके अर्थ आदि की दृष्टि से विचार किया गया था।

श्लोकगणकार

श्लोकगणकार के मतों का उल्लेख धातुवृत्तिकार माधव,[1] भट्टोजी दीक्षित[2] तथा नागेश भट्ट[3] आदि ने अनेक स्थानों पर किया है। सम्भवतः किसी विद्वान् ने गणपाठ की श्लोकबद्ध रचना की हो। इस कारण उस की प्रसिद्धि श्लोकगणकार के रूप मे होगई हो।

पाणिनीय व्याकरण से इतर किसी अज्ञात व्याकरणसंप्रदाय से संबद्ध गणरत्नमहोदधि के मूल रूप श्लोकबद्ध गणपाठ के रचियता वर्धमान को उक्त स्थानों में श्लोकगणकार के रूप में स्मरण नहीं किया गया है, क्योंकि नागेश ने लघुशब्देन्दुशेखर में श्लोकगणकार का मत उपस्थित करके गणरत्नकार वर्धमान के मत का पृथक् उल्लेख किया है।[4] सम्भव है श्लोकगणकार ने वर्धमान के समान ही गणपाठ के शब्दों की व्याख्या भी की हो, परन्तु प्रमाणविशेष की अनुपस्थिति में कुछ कहना कठिन है।

नामपारायण

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र से संबद्ध अनेक पुस्तकों में **नामपरायण** और **धातुपारायण** नाम के ग्रन्थों का अनेकधा उल्लेख मिलता है। काशिकाकार तथा धातुप्रदीपकार दोनों ने ही अपने ग्रन्थों के प्रारम्भिक श्लोकों में इन दोनों पुस्तकों का उल्लेख किया है। काशिका के **धातुनामपारायणादिषु** की व्याख्या करते हुए हरदत्त ने इन दोनों ग्रन्थों का स्वरूप इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—"जहां धातुओं की प्रक्रिया वर्णित हो वह धातुपारायण तथा जहां गणपाठ के शब्दों का निर्वचन किया जाए वह ग्रन्थ नामपारायण है।"[5] **तौल्वल्यादि** गण के कतिपय शब्दों का निर्वचन करने के उपरान्त हरदत्त का **शिष्टाः पारायणे द्रष्टव्याः**[6] कथन भी इस बात की सूचना देता

---

१. धा० वृ० पृष्ठ ४१६, ५१८। २. शब्दकौस्तुभ ३। १। १८॥

३. लघुशब्देन्दु० उत्तरार्ध, पृष्ठ ५६४।

४. द्र० लघुशब्देन्दु० उत्तरार्ध, पृष्ठ ५६४।

५. यत्र धातुप्रक्रिया तद् धातुपारायणम्, यत्र गणशब्दानां निर्वचनं तन्नामपारायणम्। प० मं० भाग १, पृष्ठ ४। ६. प० मं० भाग १, पृष्ठ ४८६।

है कि उसके समय में **नामपारायण** नाम का कोई ग्रन्थ विद्यमान था।

सम्भव है काशिका तथा धातुप्रदीप द्वारा निर्दिष्ट धातुपारायण और नामपारायण दोनों ग्रन्थ पाणिनीय सम्प्रदाय के न होकर चान्द्र सम्प्रदाय के हों, क्योंकि नामपारायण के अब तक जो दो उद्धरण मिले हैं, वे दोनों पाणिनि-अभिमत स्थिति के विरोध के रूप में उपस्थित किए गए हैं।

इन में प्रथम उद्धरण काशिकाकार द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इस उद्धरण से सूचना मिलती है कि नामपारायण के रचयिता ने **कस्कादि गण** में **सर्पिष्कुण्डिका, धनुष्कपालम्, बर्हिष्पूलम्, यजुष्पात्रम्** इन चार शब्दों का भी पाठ किया था,[1] परन्तु पतञ्जलि तथा किसी प्राचीन वृत्तिकार द्वारा **नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य** (८।३।४५) इस पाणिनीय सूत्र के **अनुत्तरपदस्थस्य** अंश के प्रत्युदाहरण रूप में **परमसर्पिःकुण्डिका** शब्द के प्रस्तुत किए जाने के कारण यह अनुमान होता है कि **सर्पिष्कुण्डिका** आदि शब्दों का कस्कादिगण में पाठ पाणिनि तथा पतञ्जलि को अभीष्ट नहीं था[2] और इस रूप में पाणिनीय सम्प्रदाय का विरोधी होने के कारण काशिकाकार ने पारायणिकों के मत की उपेक्षा कर दी।

दूसरा उद्धरण **न्यङ्क्वादि** गणपठित **निदाघ** शब्द की व्युत्पत्ति विषयक धातुवृत्तिकार ने सुधाकर के शब्दों में उपस्थित करके उसे अपाणिनीय कहा है।[3] उपर्युक्त सम्भावना को और भी बल मिलता है।

डा० लिबिश को नेपाल, कश्मीर तथा लङ्का में प्राप्त चान्द्रव्याकरण-विषयक सामग्री में **पूर्णचन्द्र** का धातुपारायण ग्रन्थ भी प्राप्त हुआ था।[4] इस चान्द्र धातुपारायण का स्मरण सर्वानन्द ने नामलिङ्गानुशासन की टीका में **ऋभुक्षो वज्र इति धातुपारायणे पूर्णचन्द्रः** शब्दों में किया है।[5] इससे

---

१. सर्पिष्कुण्डिका, धनुष्कपालम्, बर्हिष्पूलम्, यजुष्पात्रमित्येषां पाठ उत्तरपदस्थस्यापि षत्वं यथा स्यादिति ···पारायणिका आहुः। काशिका ८।३।४८।

२. भाष्ये वृत्तौ च नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्येत्यत्र परमसर्पिःकुण्डिका इत्येतदेव प्रत्युदाहरणम्। काशिका ८।३।४८॥

३. अत्र दघ घातने इति स्वादि, ततो निदघ्यतेऽनेनेति कृत्वा निदाघशब्दः साधुरिति पारायणिका इति सुधाकरः, तदपाणिनीयम्। धा० वृ० पृष्ठ ३२२।

४. इण्डियन एण्टिक्वेरी, अप्रेल १८१६, पृष्ठ १०३ तथा उससे आगे।

५. अमरटीकासर्वस्व, भाग १, पृष्ठ ४।

गणरत्नावली

शक संवत् १७९६ (विक्रम सं० १९३१) में[1] भट्ट यज्ञेश्वर ने पाणिनीय गणपाठ की छन्दोबद्ध रचना तथा अति संक्षिप्त व्याख्या **गणरत्नावली** नाम से प्रस्तुत की है। यह पुस्तक वर्धमान कृत गणरत्नमहोदधि के अनुकरण पर लिखी गई है। अनेक स्थलों पर पाणिनीय मत की दृष्टि से वर्धमान के विचारों का प्रत्याख्यान भी किया है। कहीं कहीं वार्तिकों में पठित गणों को भी स्थान दिया गया है। विशेष स्थलों पर जैन शाकटायन आदि व्याकरणों से संबद्ध गणपाठों के विभिन्न पाठभेदों का भी उल्लेख किया है। सम्भव है यह उल्लेख गणरत्नमहोदधि के आधार पर किया हो। किं बहुना, पाणिनीय गणपाठ के व्याख्या ग्रन्थों मे एक मात्र यही ऐसा ग्रन्थ है जो आज प्राचीन संस्कृत वाङ्मय के संग्रहालयों में प्रायः उपलब्ध होता है।[2]

---

१. शाके रसांकमुनिभूमिते मासि तपोऽभिधे। गणरत्नावली, पत्रा १२३ ख।

२. इसका प्रकाशन 'भारतीय प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान अजमेर' से शीघ्र होगा।

चतुर्थ अध्याय

पाणिनि से उत्तरवर्ती वैयाकरण

और

उन के गणपाठ

पाणिनि से उत्तरकालीन वैयाकरणों की परम्परा मे आचार्य चन्द्रगोमी, देवनन्दी, पाल्यकीर्ति, भोज, हेमचन्द्र तथा वर्धमान का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतः पाणिनीय गणपाठ का इन आचार्यो के शब्दानुशासनों से संबद्ध गणपाठों के साथ तुलनात्मक अध्ययन अत्यावश्यक है। इस तुलनात्मक अध्ययन से अर्वाचीन वैयाकरणों के गणपाठों के संबन्ध मे कुछ ऐसे आधारभूत सिद्धान्त स्थिर किए जा सकते हैं, जो सामान्यतया सभी अर्वाचीन गणपाठों में प्रायः अपनाए गए है। ये सिद्धान्त इस प्रकार हैं -

१–भोज को छोड़कर सभी अर्वाचीन वैयाकरणों ने अपने गणपाठों में पाणिनि के स्वरप्रक्रिया तथा वैदिक भाषा से संबन्ध रखने वाले गणों को स्थान नहीं दिया है।[1]

२–कात्यायन की वार्तिकों को अर्वाचीन वैयाकरणों ने अपने तन्त्रों मे प्रायः स्वतन्त्र सूत्र का रूप देकर सन्निविष्ट कर लिया है। इसलिए वार्तिकों में निर्दिष्ट गणों को भी इन्होंने अपने गणपाठों मे अन्य गणों के समान स्थान दिया है।

३–कहीं कहीं पाणिनि के एक गण को अनेक गणों मे विभक्त किया है।

४–कहीं कहीं पाणिनि के अनेक गणों को एक गण में समाविष्ट किया है।

५–कुछ गणों के आरम्भ में पाणिनि-निर्दिष्ट शब्द के स्थान पर किसी लघु शब्द को रखकर गण का नया नामकरण किया गया है।

---

१. चान्द्र व्याकरण का स्वर-वैदिक भाग चिरकाल से लुप्त है। (देखो यही अध्याय, पृष्ठ ११२, ११३) अतः उसके गणपाठ में भी स्वर-वैदिक-प्रकरण के गणों के समावेश की सम्भावना है।

६–पाणिनि के कतिपय गणों के शब्दों को सूत्रों मे पढ़कर उन गणों परित्याग किया है।

७–अपने से पूर्व पूर्व के आचार्यों के गणपाठों में मिलने वाले एक शब्द के अनेक पाठभेदों को स्वतन्त्र शब्द मानकर उन सभी का तत्तद् गणों में निर्देश किया है।

८–आकृतिगणों मे उत्तरोत्तर यथासम्भव शब्दों की अधिकाधिक वृद्धि की गई है।

९–पाणिनीय गणपाठ मे आकृतिगण के रूप में स्वीकृत कुछ गणों को पठितगण का रूप दिया है।

१०–पाणिनीय गणपाठ में पठितगण के रूप मे स्वीकृत अनेक गणों को आकृतिगण का रूप दिया है।

११–पाणिनि के गणपाठों मे मिलने वाले गणसूत्रों को अपने गण-पाठों में स्थान न देकर उन्हें स्वतन्त्र सूत्र का रूप प्रदान करके सूत्रपाठ में स्थान दिया है।

१२–कहीं कहीं पाणिनि के एक गण मे उपलब्ध होने वाले कई गण-सूत्रों को एक सूत्र का रूप दिया है।

१३–पाणिनि के सूत्रपाठ मे विद्यमान कई बड़े बड़े सूत्रों को गणशैली का आश्रय लेकर उन के लिए नए गणों का निर्धारण किया है।

ये उपर्युक्त बातें इन अर्वाचीन वैयाकरणों के तन्त्रों मे उत्तरोत्तर अधिकाधिक मात्रा में उपलब्ध होती है। अब हम कालक्रम से प्रत्येक वैयाकरण के गणपाठ में व्यवहृत उपर्युक्त विषयों का सोदाहरण निरूपण करते हैं--

चन्द्रगोमी तथा उस का गणपाठ

आचार्य चन्द्र अथवा चन्द्रगोमी, जिस के नाम पर चान्द्र व्याकरण प्रसिद्ध हुआ, का समय उसकी स्वोपज्ञ वृत्ति में उदाहृत **अजयद् गुप्तो हूणान्**[1]

---

१. चान्द्रवृत्ति १।२।८१ का पाठ "अजयज्जर्तो हूणान्" ही है। डा० लिबिश के संस्करण में भी यही पाठ छपा है। 'जर्त' एक प्राचीन क्षत्रिय जाति है (द्र० महाभारत सभापर्व ४६।२६)। आचार्य चन्द्र ने इसी जाति के किसी

वाक्य के आधार पर डा० लिबिश ने ४६५–५४४ ई० पश्चात् ठहराया है।[१] वाक्यपदीय के एक स्थल से भी, जहां भर्तृहरि ने अपने पुरोहित वसुरात के गुरु के रूप मे चन्द्राचार्य को स्मरण किया है,[२] लगभग इसी बात की पुष्टि होती है। चीनी यात्री इत्सिंग के लेखानुसार भर्तृहरि का मृत्युकाल ६५० ई० के पश्चात् का समय निश्चित है।

चान्द्र व्याकरण के स्वरूप के विषय में डा० वेल्वाल्कर का यह कथन उद्धृत किया जा सकता है कि–"पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि द्वारा निर्धारित संस्कृत व्याकरण के स्वरूप को और अधिक संक्षिप्त तथा पूर्णरूप मे प्रस्तुत करना ही चान्द्र व्याकरण का उद्देश्य था।"[३] इस तथ्य की पुष्टि चान्द्र व्याकरण के सामान्य अध्ययन से भी हो जाती है। चान्द्र व्याकरण की उपर्युक्त स्थिति ही उस के गणपाठ के सम्बन्ध मे भी पूर्णतया सत्य है।

चान्द्र व्याकरण का गणपाठ चन्द्रगोमी की स्वोपज्ञ वृत्ति के अन्तर्गत ही उपलब्ध होता है। इस वृत्ति का प्रथम सम्पादन डा० लिबिश ने रोमन लिपि में किया था। इसका द्वितीय संस्करण अभी हाल में श्री क्षितीशचन्द्र चटर्जी ने देवनागरी लिपि मे सम्पादित किया है (इस का तृतीयाध्यायान्त प्रथम भाग ही प्रकाशित हुआ है)।

कात्यायनीय वार्तिकों के आधार पर निर्धारित गण—पाणिनीय गणपाठ की न्यूनता की पूर्ति के लिए कात्यायन ने अपने वार्तिकों में जिन अनेक नए गणों का निर्देश किया है, प्रायः उन सभी गणों को चान्द्र गणपाठ मे स्थान दिया गया है। उदाहरणार्थ निम्न गण द्रष्टव्य हैं—

विशिष्ट राजा के कार्य का उक्त उदाहरण में उल्लेख किया है। इसी जर्त नामक राजा का निर्देश हेमचन्द्र ने उणादि (सूत्र २००) की स्वोपज्ञ वृत्ति में किया है।

१. सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ५८, ५६।

२. सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ५८–५६।

३ चन्द्रगोमिन्'s grammar was ment as an improvement on that of पाणिनि, कात्यायन and पतञ्जलि mainly in the way of greater bravity and precision. सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ५६।

१–**कम्बोजादि गण** (२ । ४ । १०४) ।

२–**पैङ्गाक्षीपुत्रादि गण** (३ । १ । १२४)

३–**देवासुरादि** तथा **स्वर्गादि गण** (४ । १ । १३३) ।

४–**पुण्याहवाचनादि गण** (४ । १ । १३४) ।

५–**ज्योत्स्नादि गण** (४ । २ । १०७) ।

६–**नवयज्ञादि गण** (४ । २ । १२४) ।

पाणिनि के सूत्रों तथा तत्संबद्ध वार्तिक-निर्दिष्ट शब्दों के आधार पर निर्धारित गण—अष्टाध्यायी के सूत्रों तथा तत्संबद्ध कात्यायन के वार्तिकों में उपसंख्यात शब्दों की दृष्टि से भी आचार्य चन्द्रगोमी ने अनेक नए गणों का निर्धारण किया है । यथा—

१–**ऊषादि गण**[१]–यह गण पाणिनि के **ऊषसुषिमुष्कमधो रः**[२] सूत्र तथा कात्यायन के **रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्**[३] वार्तिक के आधार पर ।

२–**कृष्यादि गण**[४]-पाणिनि के **रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच्**[५] तथा **दन्तशिखात् संज्ञायाम्**[६] सूत्रों और कात्यायन के **वलच्प्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यते**[७] वार्तिक के उदाहरणभूत शब्दों के आधार पर ।

३–**केशादि गण**[८]–पाणिनि के **केशाद् वोऽन्यतरस्याम्**[९] सूत्र तथा कात्यायन के **वप्रकरणे मणिहिरण्याभ्यामुपसंख्यानम्**[१०] वार्तिक के आधार पर ।

४–**कलाप्यादि गण**[११]–पाणिनि के **नस्तद्धिते**[१२] सूत्र पर विरचित **नान्तस्य टिलोपे सब्रह्मचारि०**[१३] इत्यादि वार्तिक में उपसंख्यात शब्दों के आधार पर ।

---

१. चा० वृ० ४ । २ । १२७ ॥
२. पा० ५ । २ । १०७ ॥
३. महा० ५ । २ । १०७ ॥
४. चा० वृ० ४ । २ । ११६ ॥
५. पा० ५ । २ । ११२ ॥
६. पा० ५ । २ । ११३ ॥
७. महा० ५ । २ । ११२ ॥
८. चा० वृ० ४ । २ । ११३ ॥
९. पा० ५ । २ । १०९ ॥
१०. महा० ५ । २ । १०९
११. चा० वृ० ५ । ३ । १४० ॥
१२. पा० ६ । ४ । १४४ ॥
१३. महा० ६ । ४ । १४४ ॥

५-**व्यासादि गण**[1]-पाणिनि के **सुधातुरकङ् च**[2] सूत्र पर कात्यायन से भिन्न वैयाकरण द्वारा विरचित **सुधातृव्यासवरुडनिषादचाण्डालबिम्बानामिति वक्तव्यम्**[3] वार्तिक के आधार पर।

इसी प्रकार कात्यायन के **गोपवनादिप्रतिषेधः प्राग्घरितादिभ्यः**[4] वार्तिक को दृष्टि में रखते हुए ही चन्द्रगोमी ने गोपवनादि गण के साथ **अष्टभ्य**.[5] का निर्देश आवश्यक समझा।

नए गण-आचार्य चन्द्रगोमी ने अपने गणपाठ में कुछ ऐसे नए गणों का भी निर्धारण किया है, जिनका पाणिनीय गणपाठ में अभाव है। इस प्रसङ्ग में **ऋत्वादि**[6] **हिमादि**[7] तथा **वेणुकादि**[8] गण द्रष्टव्य हैं। कई विद्वानों की धारणा है कि काशिकाकार ने चान्द्र व्याकरण के अनुकरण पर ही गहादि गण में **वेणुकादिभ्यश्छण्** को गणसूत्र के रूप मे समाविष्ट किया है।[9]

कई गणों का एकीकरण-पाणिनि के गणपाठ को अपनाते हुए भी उसमें **स्थान स्थान** पर लाघव की दृष्टि से पाणिनि के अनेक दो दो गणों को मिलाकर चान्द्र गणपाठ में एक कर दिया गया है। इन गणों का एकीकरण करके भी स्वरविषयक विभिन्न स्थितियों की सुरक्षा इस व्याकरण में कैसे की जा सकी थी, यह समझ में नहीं आता (इस व्याकरण मे स्वरप्रकरण निश्चित ही था,[10] यद्यपि आज वह उपलब्ध नहीं है)। इस एकीकरण के प्रसंग में **सिन्ध्वादि**[11] में **तक्षशिलादि** का तथा **कथादि**[12] में **गुडादि** का समावेश द्रष्टव्य है।

कुछ गणों का परित्याग-चन्द्रगोमी ने पाणिनि द्वारा निर्धारित कुछ गणों का परित्याग भी किया है।

---

१. चा० वृ० २।४।२१॥ २. पा० ४।१।६७॥

३. महा० ४।१।६७॥ ४. महा० २।४।६७॥

५. न गोपवनादिभ्योऽष्टभ्यः। चा० सू० २।४।११६॥

६. चा० वृ० ४।१।१२४॥ ७. चा० वृ० ४।२।१३६॥

८. चा० वृ० ३।२।६१॥

९. सिस्टम्स ऑफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ३८, टिप्पणी १।

१०. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ३१६-३१८।

११. चा० वृ० ३।३।६१॥ १२. चा० वृ० ३।४।१०४॥

इस दृष्टि से पाणिनि के **शौण्डादि** से लेकर **राजदन्तादि** तक के गणों का, तथा **पलाशादि**, **प्लक्षादि**, **रसादि** तथा **देवपथादि** जैसे कुछ अन्य गणों का इस व्याकरण में अभाव उल्लेखनीय है।

कुछ गणों का नाम परिवर्तन—पाणिनि द्वारा निर्धारित अनेक गणों के प्रारम्भिक शब्द को प्रायः लाघव की दृष्टि से बदल कर उन गणों का नाम भी इस व्याकरण में बदल दिया गया है। यथा **अपूपादि**[1] का **यूपादि**,[2] **इन्द्रजननादि**[3] का **शिशुक्रन्दादि**,[4] **अनुप्रवचनादि**[5] का **उत्थापनादि**,[6] **किंशुलकादि**[7] का **अञ्जनादि**,[8] **सपत्न्यादि**[9] का **समानादि**,[10] **बह्वादि**[11] का **शोणादि**,[12] तथा **सन्धवेलादि**[13] का **सन्ध्यादि**[14] नाम द्रष्टव्य हैं। पाणिनि के **व्रीह्यादि** गण को, कात्यायन की **शिखादिभ्य इनिर्वाच्य इकन् यवखदादिषु**,[15] इस वार्तिक के अनुसार चन्द्रगोमी ने **व्रीह्यादि**[16] **शिखादि**[17] तथा, **यवखदादि**[18] के स्थान पर छोटे नाम **नावादि**[19] के रूप में तीन गणों में विभक्त कर दिया है, तथा यहाँ के **शिखादि**[20] गण में ही पाणिनि के **बलादि** गण का भी समावेश किया है।

अन्य विभिन्नतायें-इनके अतिरिक्त चन्द्रगोमी ने अपने गणपाठ के **कस्कादि गण**[21] में **सर्पिष्कुण्डिका, धनुष्कपाल, बर्हिष्पूल** तथा **यजुष्पात्र** शब्दों का भी पाठ किया है, जो सम्भवतः पाणिनि को और निश्चित रूप से पतंजलि[22] को इस गण में अभिप्रेत नहीं था।

---

१. पा० ५।१।४॥ २. चा० वृ० ४।१।३॥
३. पा० ४।३।८८॥ ४. चा० वृ० ३।३।५६॥
५. पा० ५।१।१११॥ ६. चा० वृ० ४।१।१३२॥
७. पा० ६।३।११६॥ ८. चा० वृ० ५।२।१३२॥
९. पा० ४।१।३५॥ १०. चा० वृ० २।३।२३॥
११. पा० ४।१।४५॥ १२. चा० वृ० २।३।४१॥
१३. पा० ४।३।१६॥ १४. चा० वृ० ३।२।७९॥
१५. महा० ५।२।११६॥ १६. चा० वृ० ४।२।११९॥
१७. चा० वृ० ४।२।१३४॥
१८. द्र० 'इकन् यवखदादिषु'–कात्यायन की वार्तिक। महा० ५।२।११६॥
१९. चा० वृ० ४।२।११८॥ २०. द्र० चा० वृ० ४।२।१३४॥
२१. चा० वृ० ६।४।४५॥ २२. द्र० का० ८।३।४८॥

पाणिनि के **अर्धर्चादि** गण का अपने सूत्र में स्पष्ट निर्देश करके भी चन्द्रगोमी ने इस गण मे पाणिनि-निर्धारित **'गोमय'** आदि शब्दों का पाठ अनावश्यक समझा[1]। इसी तरह पाणिनि के गणपाठ में आये **अरीहणादि** आदि १७ गणों की दृष्टि से विभिन्न प्रत्ययों का विधान करके भी इन गणों के लिये शब्दों का निर्धारण करना तो दूर रहा, सूत्र में इन गणों का निर्देश भी चन्द्रगोमी ने नहीं किया[2]।

शरादि गण जो पाणिनीय–सम्प्रदाय में पठितगण के रूप में स्वीकृत है, चन्द्रगोमी के गणपाठ में आकृतिगण के रूप में प्रस्तुत किया गया है[3]। इसका अनुकरण भोज तथा वर्धमान ने भी किया है।

चान्द्र व्याकरण के वेद तथा स्वरविषयक गण–डा० बेल्वाल्कर[4] तथा एस० के० डे[5] का यह मत है कि चन्द्रगोमी ने अन्य अपरकालिक वैयाकरण के समान, बौद्ध होने के कारण पाणिनि के स्वर तथा वेदविषयक सूत्रों को अपने व्याकरण में स्थान नहीं दिया था। डा० लिबिश द्वारा सम्पादित चान्द्र वृत्ति में भी केवल ६ अध्याय ही मिलते हैं जिनमें स्वर तथा वेद का प्रकरण नहीं है। साथ ही इसके अन्त में यह स्पष्ट लिखा मिलता है—

समाप्तं चेदं चान्द्रव्याकरणं शुभम्।

इस पंक्ति से उपरोक्त धारणा की पर्याप्त पुष्टि हो जाती है।

परन्तु 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' के यशस्वी लेखक श्री पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक का यह निश्चित मत है कि चान्द्र व्याकरण में स्वर वैदिक दोनों प्रकरण अवश्य विद्यमान थे। पहले यह चान्द्र व्याकरण छः अध्यायों में विभक्त न होकर आठ अध्यायों में विभक्त था। चिरकाल से वेद

---

१. समासलिंगाख्याने गोमयादयो न वक्तव्याः। तद्वदेव वा स्त्रीपुल्लिंगाः··· स्त्रीनपुंसकलिंगाः···सर्वलिंगाः···एकलिंगाः···अलिंगा ···सर्व एव वाच्या स्यु। अथ तेषां लोकतो लिंगानुशासनतो वा सिद्धिरिष्टा तद्वदेव वा गोमयादीनामपि भविष्यति। चा० वृ० २। २। ८३॥

२. देशनाम्नो यथादर्शनमवस्थातात् अनर्थकोऽयं गणपाठः। चा० वृ० ३। १। ६८॥ ३. द्र० चा० वृ० ५। २। १३४॥

३. द्र० सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृ० ५६।

४. द्र० इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली जून १६३८, पृ० २५८ तथा उससे आगे।

और स्वर विषयक अध्यायों के उत्सन्न हो जाने से ये सम्प्रति अनुपलब्ध हैं। अपने मत की पुष्टि में आपने चान्द्रवृत्ति के **तव्यस्य वा स्वरितत्वं वक्ष्यामः**,[1] **जनिवध्योरिगुपधान्तानां च स्वरं वक्ष्याम**[2] तथा **स्वरविशेषमष्टमे वक्ष्यामः**[3] जैसे अकाट्य प्रमाणों को उपस्थित किया है, जिनसे उनके मत की सन्दिग्धता समाप्त हो जाती है।[4] उपर्युक्त दोनों प्रकरणों के अनुपलब्ध होने के कारण तत्सम्बद्ध गणपाठ का भी सम्प्रति इस व्याकरण मे अभाव है।

जैनेन्द्र व्याकरण तथा उसका गणपाठ

धनंजयकोषकार, हेमचन्द्र तथा बोपदेव जैसे विद्वानों के साक्ष्य से यह पता लगता है कि जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता का नाम देवनन्दी है।[5] इसका दूसरा नाम पूज्यपाद भी है। प्रो० पाठक ने अपने निबन्ध में यह सिद्ध करना चाहा है कि इस व्याकरण की रचना ईसा की पांचवी शताब्दी के अन्त मे हुई है।[6]

जैनेन्द्र व्याकरण के दाक्षिणात्य तथा औदीच्य दो संस्करण मिलते हैं। इनमे सूत्रों के क्रमश. अधिक तथा न्यून होने के कारण पहले को बड़ा तथा दूसरे को छोटा संस्करण माना जाता है। इनमे औदीच्य संस्करण पर लिखी गयी अभयनन्दी की महावृत्ति में ही इस व्याकरण का गणपाठ मिलता है। इस महावृत्ति की रचना संभवत. ७५० ईस्वी में हुई थी।[7]

डा० वेल्वाल्कर के विचारानुसार इस व्याकरण की अपनी कोई मौलिकता नहीं है।[8] पाणिनि के सूत्रों तथा कात्यायन की वार्तिकों को ही यथासम्भव संक्षिप्तरूप में प्रस्तुत करने का प्रयास इस व्याकरण में किया गया है। इसलिये इस व्याकरण के गणपाठ मे भी किसी प्रकार की अपनी मौलि-

---

१. चा० वृ० १ । १ । १०५ ॥ २. चा० वृ० १ । १ । १०८ ॥

३. चा० वृ० १ । १ । १४५ ॥

४. द्र० संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४१६–४१७ ॥

५. द्र० सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ६३ ।

६. द्र० इण्डियन एण्टिकरी, अक्तूबर १६१४ ।

७. द्र० सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ६७ ।

८. द्र० सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ६५ ।

कता का न होना स्वाभाविक ही है। पुनरपि इस गणपाठ मे निम्न बातें द्रष्टव्य है—

१–स्वर तथा वैदिक प्रकरण के सूत्रों के न होने के कारण तत्सम्बद्ध गणों का अभाव।

२–गणसूत्रों की प्रायः स्वतंत्र सूत्रों के रूप मे प्रतिष्ठा।

३–**पिच्छादि** तथा **तुन्दादि** का एकीकरण।

४–आकृतिगणों में कुछ शब्दों की वृद्धि।

५–चान्द्रवृत्ति तथा काशिका के गणपाठ मे मिलने वाले, एक शब्द के दो विभिन्न पाठों को स्वतंत्र रूप में दो पृथक् पृथक् शब्द मानकर पढ़ा गया है। यथा–**कुर्वादि** गण में काशिका का पाठ '**अभ्र**' है, चान्द्रवृत्ति मे '**शुभ्र**' है, परन्तु जैनेन्द्र मे '**अभ्र**' और '**शुभ्र**' दोनों ही पठित हैं।

६–इस गणपाठ मे एक बात और द्रष्टव्य है। प्रायः सर्वत्र **श** के **स्थान** मे **स** का प्रयोग मिलता है। जैसे **शंकुलादि** के **स्थान** पर **संकुलादि** अथवा **सर्वकेश** के **स्थान** पर **सर्वकेस** इत्यादि।

७–कहीं कहीं इसके विपरीत स्थिति भी मिलती है, अर्थात् **स** के **स्थान** पर **श** का प्रयोग।

व्याकरण सम्बन्धी किसी उपयुक्त कारण के अभाव मे ऐसी भयंकर अशुद्धियों का कारण संभवतः लिखने वालों की अनभिज्ञता ही हो सकती है।

(जैन) शाकटायन व्याकरण तथा उसका गणपाठ

जैनेन्द्र व्याकरण के लगभग दो शताब्दी पश्चात् पाल्यकीर्ति ने अपने व्याकरण की रचना की।[1] इस व्याकरण को 'शाकटायन-शब्दानुशासन' भी कहा जाता है। इसी पाल्यकीर्ति ने अपने शब्दानुशासन पर ८१७–८७७ इस्वी में होने वाले राष्ट्रकूट के राजा अमोघवर्ष के समय में 'अमोघा' नामक वृत्ति की रचना की।[2] शाकटायन व्याकरण के टीकाकार यक्षवर्मा ने अपनी चिन्तामणि टीका के मंगलाचरण वाले प्रारम्भिक श्लोकों में इस व्याकरण की विशेषता बताते हुए यह घोषणा की है कि पाल्यकीर्ति के इस व्याकरण में

१–द्र० सं० व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४३५।

२–द्र० सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ६८–६९।

पाणिनीय व्याकरण के समान वार्तिकों, इष्टियों तथा उपसंख्यानों की कोई आवश्यकता नहीं है।[1] इन्द्र, चन्द्र आदि शाब्दिकों ने शब्द का जो लक्षण कहा है, वह सब इस शब्दानुशासन में विद्यमान है, तथा जो यहाँ नहीं है वह अन्यत्र कहीं नही है।[2] केवल लौकिक संस्कृत की शब्दावली को देखते हुए जैन-शाकटायन-व्याकरण को यह श्रेय दिया जा सकता है। इस व्याकरण में इस प्रकार की विशेषता का होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि इस व्याकरण के प्रवक्ता आचार्य पाल्यकीर्ति के समक्ष पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि, चन्द्र-गोमी तथा पूज्यपाद (=देवनन्दी) आदि अनेकानेक वैयाकरणों की उत्तरोत्तर परिवर्धित तथा परिशोधित विपुल-व्याकरण-सामग्री विद्यमान थी। सम्भवतः इस सम्पूर्ण सामग्री का पूरा पूरा उपयोग इस व्याकरण में किया गया है।

शाकटायन नाम का कारण–ए. सी. बर्नेल ने इस व्याकरण के विषय में विचार करते हुए यह मत प्रकट किया है[3] कि जैनेन्द्र-व्याकरण से भी अर्वाचीन होने के कारण इस व्याकरण का, पाणिनि से प्राचीन वैयाकरण शाकटायन द्वारा विरचित होना सर्वथा असम्भव एवं असंगत है। परन्तु इस विचार के साथ साथ उनकी यह भी धारणा है कि भले ही इस व्याकरण की रचना प्राचीन आचार्य शाकटायन द्वारा साक्षात् न हुई हो, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप में, किसी तरह इसका सम्बन्ध प्राचीन शाकटायन के साथ अवश्य है अर्थात् आचार्य शाकटायन विरचित या उससे सम्बद्ध किसी व्याकरण के आधार पर पाल्यकीर्ति ने इस व्याकरण की रचना की है।

अपनी इस धारणा की पुष्टि में उन्होंने यह हेतु प्रस्तुत किया है कि पाणिनि अष्टाध्यायी में आचार्य शाकटायन का नाम लेकर जितने भी मत संकलित हैं, वे सारे मत इस व्याकरण में शाकटायन का नाम लिये विना ही सूत्रों में उल्लिखित हैं।

---

१. इष्टिर्नेष्टा न वक्तव्यं वक्तव्यं सूत्रतः पृथक्।।
संख्यातं नोपसंख्यातं यस्य शब्दानुशासने। श्लोकसंख्या ४।

२. इन्द्रचन्द्रादिभिः शाब्दैः यदुक्तं शब्दलक्षणम्।
तदिहास्ति समस्तं च यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥ श्लोकसंख्या ६।

३. द्र० सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ६६ तथा उससे आगे।

पाणिनि	पाल्यकीर्ति
लङः शाकटायनस्यैव ।[१]	अद्विषो भेर्जुस्वा ।[२]
व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्यैव ।[३]	व्योऽव्याद्योभोभगोः ।[४]
	अच्यस्पष्टश्च ।[५]
त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य[६]	अचो ह्रोऽह्न्चः ।[७]
	अदीर्घात् ।[८]
	न संयोगे ।[९]

पाणिनि के सूत्रों के विपरीत पाल्यकीर्ति के शब्दानुशासन मे मिलने वाले उपर्युक्त सूत्रों में शाकटायन का नाम न मिलने से इन सूत्रों के प्राचीन आचार्य शाकटायन द्वारा विरचित होने की सम्भावना की जा सकती है। इस रूप मे इन सूत्रों के आधार पर ही पाल्यकीर्ति के शब्दानुशासन के विषय मे बर्नेल ने कहा है कि 'प्राचीन (शाकटायन के) ग्रन्थ का जैन प्रभाव से युक्त सापेक्षतः आधुनिक संस्करण है।'[१०]

परन्तु बर्नेल की यह धारणा, पर्याप्त युक्तियों के अभाव मे बहुत प्रबल एवं साधार नहीं कही जा सकती। क्योंकि इन सूत्रों की उपर्युक्त स्थिति सर्वथा इसी रूप मे–शाकटायन का नाम लिये विना ही–केवल सामान्य शब्दवैभिन्न्य के साथ चान्द्र व्याकरण तथा जैनेन्द्र व्याकरण मे भी प्राप्त होती है। साथ ही एक बात और विशेष ध्यान देने योग्य है कि यदि इन सूत्रों का सम्बन्ध प्राचीन शाकटायन से होता तो इन में '**वा**' इत्यादि पदों के द्वारा अन्य मतों का प्रदर्शन नहीं होता। अतः केवल पूर्वनिर्दिष्ट आधार पर जैन शाकटायन व्याकरण को प्राचीन शाकटायन से सम्बद्ध नहीं माना जा सकता।

---

१. पा० ३ । ४ । १११ ॥
२. शा० १ । ४ । १०६ ॥
३. पा० ८ । ३ । १८ ॥
४. शा० १ । १ । १५३ ॥
५. शा० १ । १ । १५४ ॥
६. पा० ८ । ४ । ५० ॥
७. शा० १ । १ ११७ ॥
८. शा० १ । १ । ११८ ॥
९. शा० १ । १ । ११९ ॥
१०. It is comparatively moder reduction of an old treatise effected under Jain influences. सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर पृष्ठ ६६ ।

शाकटायन-गणपाठ का एक विशेष स्थल—रूढादिगण—उक्त धारणा से कथमपि सहमत न होना चाहते हुए भी, इस प्रसंग मे गणपाठ से सम्बद्ध, इस व्याकरण का एक और स्थल उपस्थित किया जाता है। कात्यायन[1] तथा पतञ्जलि[1] के प्रामाणिक वचनों के अनुसार पाणिनि के **क्रौड्यादि** गण का प्राचीन नाम **रौढ्यादि** गण था, परन्तु पाणिनि के गणपाठ में '**रौढि**' शब्द के इस गण के आदि मे होने की संभावना तो दूर रही, यह शब्द ही उस में पठित नहीं है। पाणिनि तथा अन्य सभी वैयाकरणों के विपरीत शाकटायनव्याकरण के गणपाठ में **क्रौड्यादि** गण का नाम **रूढादिगण** मिलता है[2] जो कि निश्चित ही '**रौढ्यादि**' का भ्रष्टरूप है।

इसलिये प्रो० बर्नेल की उपर्युक्त धारणा यदि किसी अन्य आधार पर प्रामाणिकता की कोटि में आसके, तो यह कहा जा सकता है कि इस '**रूढादि**' नाम को, आचार्य पाल्यकीर्ति ने पाणिनि के क्रौड्यादिगण के पूर्वरूप तथा प्राचीन आचार्य शाकटायन निर्धारित गणपाठ में विद्यमान 'रौढ्यादि' नाम के अनुकरण पर ही अपने शब्दानुशासन सम्बन्धी गणपाठ मे अपनाया होगा। तब हमे इस बात का भी उत्तर मिल जाता है कि पाल्यकीर्ति द्वारा विरचित तथा जैनेन्द्रव्याकरण से भी अर्वाचीन शब्दानुशासन के साथ पाणिनि तथा यास्क से भी प्राचीन आचार्य शाकटायन का नाम कैसे संयुक्त हो सका।

शाकटायन-व्याकरण का गणपाठ—इस व्याकरण का गणपाठ पाल्यकीर्ति की स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति मे मिलता है तथा उसके अतिरिक्त इस व्याकरण की लघुवृत्ति के अन्त में भी प्रकाशित है। शाकटायनशब्दानुशासन के समान ही इस के तथा इस के अनुगामी हैमव्याकरण के गणपाठ को भी पाणिनीय गणपाठ का सुविस्तृत यत्र तत्र परिवर्तित तथा परिवर्धित रूप कहा जा सकता है। इस गणपाठ में चान्द्रव्याकरण की उपरिनिर्दिष्ट पद्धति को अधिकाधिक अपनाने का प्रयास किया गया है।

---

१. सिद्धन्तु रौढ्यादिषूपसंख्यानात्···के पुना रौढ्यादयः ? ये क्रौड्यादयः। कैयट-'ये क्रौड्यादय इति-पूर्वाचार्यसंज्ञया एवमभिहितमित्यर्थः। महा० प्रदीप ४।१।७९॥

२. रूढादिभ्यः। शा० १।३।४॥

नामपरिवर्तन—उक्त प्रयास के अनुरूप पाणिनीय गणपाठ मे स्वीकृत अनेक गणों के नाम प्रायः लाघव की दृष्टि से बदल दिये गये हैं।

पाणिनि	पाल्यकीर्ति
आहिताग्न्यादि	भार्योढादि[१]
लोहितादि	निद्रादि[२]
पचादि	लिहादि[३]
अश्वपत्यादि	धनादि[४]
उक्थादि	न्यायादि[५]
संकाशादि	सुपथ्यादि[६]
पक्षादि	पथ्यादि[७]
सन्धिवेलादि	सन्ध्यादि[८]
ऋगयनादि	शिक्षादि[९]
महिष्यादि	नरादि[१०]
अनुप्रवचनादि	उत्थापनादि[११]
ब्राह्मणादि	राजादि[१२]
मनोज्ञादि	चौरादि[१३]

---

१. शा० २ । १ । ११५; है० ३ । १ । १५३ ॥
२. शा० ४ । १ । २७; है० ३ । ४ । ३० ॥
३. शा० ४ । ३ ८५; है० ५ । १ । ५० ॥
४. शा० २ । ४ । ५; है० ४ । १ । १४ ॥
५. शा० २ । ४ । १७४; है० ६ । २ । ११८ ॥
६. शा० २ । ४ । २०२; है० ६ । २ । ८४ ॥
७. शा० २ । ४ । २० ॥
८. शा० ३ । १ । १७६; है० ६ । ३ । ८६ ॥
९. शा० ३ । १ । १३६; है० ६ । ३ । १४८ ॥
१०. शा० ४ । २ । ४६; है० ६ । ४ । ५१ ॥
११. शा० ३ । २ । १२१; है० ६ । ४ । १२१ ॥
१२. शा० ३ । ३ । १०; है० ७ । १ । ६० ॥
१३. शा० ३ । ३ । । २०; है० ७ । १ । ७३ ॥

पाणिनि	पाल्यकीर्ति
आकर्षादि	अश्मादि[1]
पामादि	अङ्गादि[2]
अर्शआदि	अभ्रादि[3]
गवादि	युगादि[4]
अंगुल्यादि	गोण्यादि[5]
स्थूलादि	अण्वादि[6]
पारस्करादि	अवस्करादि[7]
किंशुलकादि	अञ्जनादि[8]
स्वागतादि	स्वाङ्गादि[9]
यवादि	ऊर्म्यादि[10]
सुषामादि	भीरुष्ठानादि[11]

इन सभी स्थानों मे पाल्यकीर्ति का अभिन्न अनुकरण हेमचन्द्र ने किया है। केवल एक स्थान पर भिन्नता है—पाणिनि के **पक्षादि** का पाल्यकीर्ति ने **पथ्यादि** नाम रखा है, परन्तु हेमचन्द्र ने **पन्थ्यादि**[12] रखा है।

परित्यक्त गण—पाणिनि का **तक्षशिलादि** गण यहां नहीं मिलता। केवल इस गण के **काण्ड, वरक, तथा ग्रामणी** शब्द **सिन्ध्वादि** गण मे

---

१. शा० ३ । १ । ८७; हे० ६ । ३ । ६७ ॥
२. शा० ३ । ३ । १२६; हे० ७ । २ । २६ ॥
३. शा० ३ । ३ । १४१; हे० ७ । २ । ४६ ॥
४. शा० ३ । २ । २१०; हे० ७ । १ । ३० ॥
५. शा० ३ । ३ । ४५; हे० ७ । १ । १२१ ॥
६. शा० ३ । ३ । १८०; हे० ७ । २ । ७६ ॥
७. शा० २ । २ । ३६; हे० ३ । २ । ४८ ॥
८. शा० २ । २ । ६५; हे० ३ । २ । ७७ ॥
९. शा० २ । ३ । ६०; हे० ७ । ४ । ६ ॥
१०. शा० १ । २ । १०१; हे० २ । १ । १६ ॥
११. शा० २ । २ । १५०; हे० २ । ३ । ३३ ॥
१२. हे० ६ । २ । ८६ ॥

पठित मिलते हैं।[१] इसी प्रकार **तालादि** गण का केवल **श्यामाक** शब्द **रजतादि** गण में मिलता है।[२] **तालादि** गण यहां अनुपलब्ध है। **हरीतक्यादि** गण भी यहां नहीं दिखाई देता।

पाणिनि के उन गणों को भी जिनमें दो चार ही शब्द पठित थे, को पाल्यकीर्ति ने गणपाठ में स्थान नहीं दिया, क्योंकि इस प्रकरण के शब्दों का उसने तत्सम्बद्ध सूत्रों मे ही प्रतिपद पाठ कर दिया गया है। यथा–**क्रमादि**[३] अथवा **कोटरादि** गण।[४] यहां भी हेमचन्द्र ने पाल्यकीर्ति का ही अनुगमन किया है।

कात्यायन-सम्मत गणों को अपनाना—पाल्यकीर्ति तथा हेमचन्द्र दोनों ने ही कात्यायन की वार्तिकों में उल्लिखित गणों को अपने अपने व्याकरण के स्वतन्त्र सूत्रों से सम्बद्ध करके अपने अपने गणपाठ मे स्थान दिया है। उदाहरण के रूप में—

१–पारदारादिगण।[५]
२–सुस्नातादिगण।[६]
३–माशब्दादिगण।[७]
४–गिरिनद्यादिगण[८]
५–शकादि गण।[९]
६–गड्वादिगण।[१०]
७–परिमुखादिगण।[११]

इत्यादि गणों को देखा जा सकता है।

---

१. द्र०–शा० अ० ३। १। २०१; हे० वृ० ६। २। २१६॥
२. द्र०–शा० अ० २। ४। ६१; हे० वृ० ६। २। ४५॥
३. द्र०–शा० अ० २। ४। १८०; हे० वृ० ४। २। १२७॥
४. द्र०–शा० अ० २। २। १६०; हे० वृ० ३। २। ७६॥
५. शा० ३। २। ३७; हे० ६। ४। ३८॥
६. शा० ३। २। ४४; हे० ६। ४। ४२॥
७. शा० ३। २। ४६; हे० ६। ४। ४४॥
८. शा० २। २। १६३; हे० २। ३। ६८॥
९. शा० २। ४। १०४; हे० ६। १। १२०॥
१०. शा० २। १। १४४; हे० ३। १। १५६॥
११. शा० ३। १। १२४; हे० ६। ३। १३६॥

नए गण—पाणिनि के बड़े बड़े सूत्रों को भी गणशैली द्वारा छोटा करने की दृष्टि से, सूत्रों तथा तत्सम्बद्ध वार्तिकों में निर्दिष्ट शब्दों के लिए विभिन्न गणों का निर्धारण करना चाहते हुए पाल्यकीर्ति तथा हेमचन्द्र दोनों ने अनेक नए गणों की कल्पना अपने अपने गणपाठों मे की है। यथा—पाणिनि के **पञ्चमी भयेन**[1] तथा **अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः**[2] इन सूत्रों मे आये शब्दों को अन्तर्भावित करते हुए **भयादि**[3] गण का निर्धारण किया गया है। **समानस्य च्छन्दस्यमूर्द्धप्रभृत्युदर्केषु**[4] इस सूत्र के **समानस्य** पद का 'योगविभाग' करके सिद्ध किए जाने वाले **सपक्ष सधर्म** जैसे शब्दों तथा **ज्योतिर्जनपद०**[5] सूत्र के शब्दों के लिए **धर्मादिगण**[6] की कल्पना की है। इसी प्रकार **देवमनुष्यपुरुषपुरु०**[7] इस पाणिनीय सूत्र के लिये **देवादिगण**[8] की व्यवस्था तथा **द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्त-प्राप्तापन्नैः**[9] सूत्र की दृष्टि मे **श्रितादि**[10] गण की कल्पना द्रष्टव्य है।

सन्देह-निवारण का प्रयास—पाल्यकीर्ति तथा हेमचन्द्र दोनों ने ही पाणिनि के गणपाठ में मिलने वाले **कुमुदादि** नाम के दो गणों मे से पहले का **कुमुदादि**[11] तथा दूसरे का **अश्वत्थादि**[12] नाम रखा है।

पाणिनि के '**व्रीह्यादिभ्यश्च**' सूत्र मे सम्बद्ध कात्यायन की वार्तिक **शिखादिभ्य इनिर्वाच्य इकन् यवखदादिषु**[13] के आधार पर चन्द्रगोमी ने

---

१. पा० २ । १ । ३७ ॥ २. पा० २ । १ । ३८ ॥

३. शा० २ । १ । ३३; हे० ३ । १ । ७३ ॥

४. पा० ६ । ३ । ८४ ॥ ५. पा० ६ । ३ । ८५ ॥

६. शा० २ । २ । १०६; हे० ३ । २ । १४६ ॥

७. पा० ५ । ४ । ५६ ॥

८. शा० ३ । ४ । ६३; हे० ३ । २ । १४६ ॥

९. पा० २ । १ । २४ ॥

१०. शा० २ । १ । ३३; हे० ३ । १ । ६२ ॥

११. शा० २ । ४ । २०२; हे० ६ । २ । ९६ ॥

१२. शा० २ । ४ । २०२; हे० ६ । २ । ९७ ॥

१३. महा० ५ । २ । ११६ ॥

पाणिनि के **व्रीह्यादिगण** के तीन विभाग–**व्रीह्यादि,**[1] **शिखादि**[2] तथा **नावादि**[3] किए थे, इसका निर्देश ऊपर किया जा चुका है। पाल्यकीर्ति तथा हेमचन्द्र दोनों ने इन तीन विभागों को अपनाते हुए, यहां के **शिखादि** गण में ही पाणिनि के **बलादि**[4] गण का भी समावेश कर दिया है। ये दोनों ही आचार्य इस शिखादिगण को आकृतिगण मानते हैं।

कई गणों का एकीकरण—चन्द्रगोमी द्वारा प्रदर्शित पाणिनि के कई गणों के एकीकरण की पद्धति को भी इन दोनों में अधिकाधिक अपनाया है। **भिक्षादि** गण तथा **खण्डिकादि** गण का,[5] **कथादि** और **गुडादि** का,[6] **ब्राह्मणादि** और **पुरोहितादि** का[7] तथा **संकाशादि** और **प्रगदिन्नादि** का[8] एकीकरण द्रष्टव्य है। पाणिनि के अनेक गणों के एवंविध एकीकरण में इन अर्वाचीन वैयाकरणों की स्वरशास्त्रनिरपेक्षिता पर्याप्त प्रेरक रही, जब कि पाणिनि के व्याकरण मे स्वरप्रक्रिया को महत्त्वपूर्ण स्थान देने के कारण उन्हें पृथक् पृथक् स्वर की दृष्टि से पृथक् पृथक् प्रत्यय करने के लिए पृथक् पृथक् गण पढ़ने पड़े।

चन्द्रगोमी तथा शाकटायन और हेमचन्द्र

चन्द्रगोमी के **ऋत्वादि**[9] तथा **वेणुकादि**[10] गणों को पाल्यकीर्ति तथा हेमचन्द्र दोनों ने उसी रूप में स्वीकार कर लिया है। परन्तु चन्द्रगोमी द्वारा निर्धारित कुछ गणों के नामों मे इन दोनों ने परिवर्तन कर दिया है।

---

१. शा० ३ । ३ । १५२; हे० ७ । २ । ५ ॥

२. शा० ३ । ३ । १५१; हे० ७ । २ । ४ ॥

३. शा० ३ । ३ । १५२; हे० ७ । २ । ३ ॥

४. शा० अ० ३ । ३ । १५१; हे० बृ० ७ । २ । ४ ॥

५. शा० अ० २ । ४ । १२८; हे० बृ० ६ । २ । १० ॥

६. द्र० शा० अ० २ । २ । २०२; हे० बृ० ७ । १ । २१ ।

७. द्र० शा० अ० ३ । ३ । १०; हे० बृ० ७ । १ । ६० ॥

८. द्र० शा० अ० २ । ४ । २०२; हे० बृ० ६ । २ । ८४ ॥

९. शा० ३ । २ । ११४; हे० बृ० ६ । ४ । १२५ ॥

१०. शा० ३ । १ । ५६; हे० ६ । ३ । ६६ ॥

यथा—**हिमादि** का नाम **गुणादि**[1] और **कलाप्यादि** का **मौदादि**।[2]

कई गणसूत्रों का एकीकरण—पाल्यकीर्ति तथा हेमचन्द्र दोनों ने ही कहीं कहीं पाणिनि के गणपाठ में पाए जाने वाले कई गणसूत्रों को, यदि वे एक ही गण में पठित हैं तो उन्हें, एक बड़े स्वतंत्र सूत्र का रूप देदिया है। उदाहरण के लिये **स्थूलादि**[3] तथा **प्रज्ञादि**[4] गण के अनेक गणसूत्रों के लिये इन दोनों वैयाकरणों द्वारा परिवर्तित बड़े बड़े सूत्र देखे जासकते हैं।

पाणिनि के पठितगण आकृतिगण के रूप में—पाणिनि के गणपाठ में पठितगण के रूप में मिलने वाले शौण्डादि[5] तथा कडारादि[6] गणों को पाल्यकीर्ति तथा हेमचन्द्र दोनों ने ही आकृति गण के रूप मे माना है। पाणिनि ने जिन गणों को आकृतिगण माना था, उनमें से अनेक गणों में इन दोनों ने शब्दों की पर्याप्त परिवृद्धि की है।

स्वर तथा वैदिक प्रक्रिया से संबद्ध गणों का अभाव—अपने से पूर्वभावी जैनेन्द्र के समान पाल्यकीर्ति तथा हेमचन्द्र ने भी स्वर तथा वेद-विषयक प्रकरणों से अपने व्याकरण को अछूता रखने के कारण तत्सम्बद्ध गणों को भी अपने गणपाठ में स्वभावतः ही नहीं स्थान दिया है।

हेमचन्द्र तथा उसका गणपाठ

कालक्रम की दृष्टि से हेमचन्द्र का स्थान श्रीभोज के अनन्तर है, परन्तु पाल्यकीर्ति-विरचित शाकटायन-शब्दानुशासन के अधिकाधिक अनुयायी और समीप होने के कारण इस अध्ययन मे पाल्यकीर्ति के पश्चात् हेमचन्द्र को स्थान देना अनुचित नहीं कहा जायगा।

जैन मतानुयायी हेमचन्द्र सूरि रचित या निर्धारित व्याकरण का पूरा नाम **सिद्धहेमचन्द्राभिधस्वोपज्ञ-शब्दानुशासन** है। हेमचन्द्र का जन्मकाल

---

१. शा० ३।३।१५८; है० ७।२।५३॥
२. शा० ३।१।७०, है० ६।३।१८२॥
३. द्र० शा० ३।३।१८१; है० ७।३।३७॥
४. द्र० शा० ३।४।१३३; है० ७।२।१६६॥
५. द्र० शा० अ० २।१।५२; है० बृ० ३।१।६८॥
६. द्र० शा २०।१।११७; है० बृ० ३।१।१५८॥

१०८८ अथवा १०८९ तथा मृत्युकाल ११४३ ईस्वी माना जाता है।[1] चन्द्रगोमी तथा पाल्यकीर्ति के समान हेमचन्द्र ने भी अपने शब्दानुशासन पर स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी है। वह दो प्रकार की है। एक **लघुवृत्ति** और दूसरी **बृहद्वृत्ति**। इस बृहद्वृत्ति' मे ही इस व्याकरण का गणपाठ उपलब्ध होता है।

हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण मे पाल्यकीर्ति के शब्दानुशासन तथा उसकी अमोघवृत्ति का कितना अधिक अनुकरण किया है, इसका परिज्ञान प्रो० बेल्वाल्कर के इस कथन से किया जा सकता है--

विशेषतः शाकटायन के शब्दानुशासन तथा अमोघवृत्ति के सम्बन्ध में उसका (हेमचन्द्र का) आश्रित होना इतना निकट का है कि वह सर्वथा अन्धानुकरण की स्थिति तक जा पहुंचता है।[2]

इस प्रसंग मे एक और विद्वान का यह वक्तव्य भी ध्यान देने योग्य है--

वस्तुतः उन परिस्थितियों को छोड़कर, जिनके कारण हेमचन्द्र ने कातन्त्र के अनेक पारिभाषिक शब्दों को स्वीकार किया, उसका (हेमचन्द्र का) व्याकरण शाकटायन शब्दानुशासन के संशोधित तथा संभवतः बहुत कुछ परिवर्धित संस्करण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इस प्रकार के अनुकरण से उत्पन्न होने वाली हैमव्याकरण के गणपाठ की, पाल्यकीर्ति के व्याकरण के गणपाठ से एकात्मकता का पर्याप्त निदर्शन हो जाता है। इतना होने पर भी हैम गणपाठ में अपनी कुछ विशेषतायें हैं। उन्हें हम यहां उपस्थित करते हैं।

नए गण--अपने प्राचीन वैयाकरणों की पद्धति को आगे बढ़ाते हुए हेमचन्द्र ने भी कुछ नये गणों की उद्भावना की है। यथा--पाणिनि के **सायंचिरंप्राह्णे**[3] सूत्र को दृष्टि मे रख कर **सायाह्णादि**[4], **चतुर्थी**

---

१. द्र० सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ७३।

२. Especially in regard to शाकटायनशब्दानुशासन and the अमोघवृत्ति his dependence is so close as to amount to almost slavish imitation, सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर पृ० ७६।

३. पा० ४।३।२३॥ ४. हे० ३।१।५३॥

तदर्थार्थं[1] सूत्र के लिये पाल्यकीर्ति निर्धारित अर्थादि[2] गण के स्थान पर उसका नाम बदल कर **हितादि**[3] तथा '**अतन्तावसथ**'[4] सूत्र के लिये **भेषजादि गण**[5] का निर्धारण द्रष्टव्य है।

एक गण के दो गण—पाणिनि के **पुष्करादि** तथा **अजादि** इन दो गणों में तथा इसी प्रकार कस्कादिगण को **भ्रातुष्पुत्रादि** तथा **कस्कादि**[4] इन दो गणों मे विभाजन करना भी हेमचन्द्र की अपनी सूझ है।

गणपाठ में अन्य मत प्रदर्शन—हेमचन्द्र ने सूत्रपाठ के समान गणपाठ में भी अपने से प्राचीन वैयाकरणों के मतों को **अपरः**, **परः**, **इति कश्चित्**, तथा **एके** जैसे शब्दों से उपस्थित किया है।

पाठान्तरों का संकलन—अपने से प्राचीन आचार्यों के गणपाठों में मिलने वाले एक ही शब्द के विभिन्न पाठभेदों को, प्राय सर्वत्र पृथक् स्वतन्त्र शब्द के रूप में हेमचन्द्र ने अपने गणपाठ में स्थान दिया है। यह प्रवृत्ति जैनेन्द्र, शाकटायन तथा भोज द्वारा निर्धारित गणपाठों में भी पायी जाती है। इस प्रक्रिया के कारण इनके गणपाठ का कलेवर बहुत कुछ बड़ा हो गया है।

इस स्थिति के उदाहरण के रूप मे कुछ स्थल उपस्थित किये जा रहे हैं। कुर्वादि गण मे वामन स्वीकृत पाठ **मति** है तथा पाल्यकीर्ति का पाठ **मतिमत** है। परन्तु हैम गणपाठ मे ये दोनों शब्द मिलते हैं। पक्षादिगण में काशिका सम्मत पाठ **चित्र** है। जैनेन्द्र व्याकरण के गणपाठ में **चित्रा** है। पाल्यकीर्ति के गणपाठ मे **पाकचित्र** पाठ है, परन्तु हेमचन्द्र ने अपने गणपाठ में '**चित्रा**' तथा '**पाकचित्र**' दोनों ही शब्दों को संग्रहात्मक ढंग से स्थान दिया है। इसी तरह मध्वादि गण मे काशिका का पाठ **तक्षशिला** है, तथा पाल्यकीर्ति का **अक्षशिला** पाठ है। परन्तु हेमचन्द्र के गणपाठ में **तक्षशिला**, **अक्षशिला** तथा **अक्षशिली** ये तीन शब्द पठित मिलते हैं।

संगृहीत विगृहीत पाठ—इसके अतिरिक्त हैम गणपाठ में एक शब्द के संगृहीत (=समुदायरूप) तथा दो तीन खण्डों में विगृहीत (=विभक्त)

---

१. पा० २ । १ । ३६ ॥ २. शा० २ । १ । ३८ ॥
३. है० ३ । १ । ७१ ॥ ४. पा० ५ । ४ । २३ ॥
५. है० ७ । २ । १६४ ॥

पाठों का अनेकत्र प्रदर्शन मिलता है। यथा–उत्करादि गण में **इडा, अजिर** तथा **इडाजिर** और तिकादि गण में **तिक, कितव** तथा **तिककितव** इत्यादि।

श्रीभोज तथा उसका गणपाठ

परमार वंशीय धाराधीश्वर महाराजा श्री भोज ने, जिनका शासनकाल उनके प्राप्त दानपत्रों के अनुसार १०९८ से १०५३ ईस्वी के मध्य माना जाता है, **सरस्वतीकण्ठाभरण** नामक दो ग्रन्थों की रचना की। इनमें से एक व्याकरण-विषयक है और दूसरा अलंकार विषयक। व्याकरण विषयक सरस्वतीकण्ठाभरण पाणिनि की अष्टाध्यायी के समान आठ अध्यायों में विभक्त है। इनमे प्रारम्भिक सात अध्यायों में लौकिक शब्दों का अन्वाख्यान है, तथा आठवें अध्याय में स्वर तथा वैदिक शब्दों पर विचार किया गया है। भोज के इस व्याकरण के मुख्य आधार पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा चन्द्रगोमी का व्याकरण दोनों हैं। परन्तु जहां तक सूत्रों की रचना तथा प्रकरण अथवा विषयविभाग का सम्बन्ध है, श्रीभोज ने पाणिनि की अष्टाध्यायी की अपेक्षा, चन्द्रगोमी के व्याकरण का ही अनुकरण किया है।

भोज-व्याकरण का एक अपूर्व वैशिष्ट्य–भोज-व्याकरण की सब से बड़ी विशेषता यह है कि इसमे सूत्रपाठ के साथ साथ आवश्यक वार्तिक, परिभाषा, लिङ्गानुशासन, उणादि-सूत्र तथा गणपाठ के विस्तृत प्रसंगों को भी स्थान दिया गया है। श्रीभोज ने सम्भवतः प्राचीन वैयाकरणों द्वारा सूत्रपाठ के परिशिष्ट रूप में संगृहीत गणपाठ आदि के साथ की गयी उपेक्षा तथा उससे उत्पन्न, विशेषतः गणपाठ में विभिन्न पाठभेदों तथा अपभ्रंशों की आश्चर्यजनक बहुलता को देखते हुए ही, प्राचीन आपिशलि आदि वैयाकरणों से लेकर अर्वाचीन पाल्यकीर्ति पर्यन्त वैयाकरणों की सुदीर्घ परम्परा द्वारा अपनायी गयी परिशिष्ट पद्धति की अवहेलना करके, उपर्युक्त विशिष्ट पद्धति को अपनाया होगा।

आकृतिगणों का पाठ—इस कारण भोजविरचित सरस्वतीकण्ठाभरण के उन उन सूत्रों में ही तत्सम्बद्ध गणों को तो प्रतिष्ठित किया ही गया है, आकृतिगणों के लिये भी, जिनका साकल्येन प्रतिपद पाठ असम्भव था, यथासम्भव शब्दों का पाठ करके अन्य अभिप्रेत शब्दों को उन उन आकृतिगणों में समाविष्ट करने के लिये अन्त में **आदि** पद का निर्देश किया गया है।

नवीन गणों का निर्देश—भोज के गणपाठ विषयक पाठभेदों को तो वर्धमान अपनी गणरत्नमहोदधि मे अन्य वैयाकरणों के साथ साथ अत्यधिक सम्मानपूर्वक उपस्थित करता ही है, साथ ही है भोज द्वारा निर्धारित नवीन गणों—**किंशुकादि, वृन्दारकादि, मतल्लिकादि** तथा **खसूच्यादि** की व्याख्या करते हुए उनकी ओर हमारा ध्यान भी आकृष्ट करता है।[1]

सम्भवतः भोज के द्वारा आविष्कृत नये **जयादिगण**[2] का अनुकरण हेमचन्द्र ने अपने गणपाठ में किया है,[3] जिसका प्रदर्शन क्षीरस्वामी ने अपने 'अमर-कोशोद्घाटन' टीका में अनेकधा किया है।[4]

वार्तिक गणों का पाठ—चन्द्रगोमी के अनुकरण पर भोज ने पाणिनि के गणपाठ को पर्याप्त परिवर्तित तथा परिवर्धित रूप मे स्वीकार किया है। कात्यायन द्वारा वार्तिकों में निर्दिष्ट गणों का पाठ भी भोज के सूत्रों में मिल जाता है।

गणों के नामान्तर—चन्द्रगोमी प्रदत्त **बह्वादि** का **शोणादि** तथा **अपूपादि** का **यूपादि** नाम देखते हुए भोज ने भी क्रमशः **शोण** तथा **यूप** को तत्सम्बद्ध सूत्रों[1] में प्रथम स्थान दिया है।

स्वतन्त्र मार्ग का अनुसरण—कहीं कहीं भोज ने चन्द्रगोमी के मार्ग को छोड़ कर किसी नये मार्ग का भी आविष्करण किया है। यथा—ब्रीह्यादि-गण के, कात्यायन के अनुकरण पर, चन्द्रगोमी द्वारा प्रदर्शित त्रिधा विभाग को भोज ने नही अपनाया उसने ब्रीह्यादिगण मे पठित **शिखा** आदि शब्दों को **पुष्करादि गण**[5] में तथा **कर्म** और **चर्म** शब्द को **बलादि** गण[6] मे पढ़ कर संक्षेप का अपना एक अलग मार्ग प्रदर्शित किया है।

पाठान्तरों का स्वीकरण—कहीं कहीं प्राचीन विभिन्न आचार्यों द्वारा स्वीकृत एक शब्द के विभिन्न पाठभेदों को पृथक् पृथक् स्वतन्त्र शब्दों के रूप में स्वीकार कर लेने की प्रवृत्ति भोज में भी पायी जाती है। जैसे **कुर्वादि**

---

१ द्र० गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ ८३–८६। २. भो० ७।३।६२॥

३. हे० २।३।१०५॥ ४. अम० पृष्ठ० ७७, ८७, १२७॥

५. द्र० भो० ३।४।७५; ४।४।१८८॥

६. द्र० भो० ५।२।१६०–१६२॥ ७. द्र० भो० ५।२।१६३-१६४॥

गण में काशिका-स्वीकृत पाठ **मुर** है। चान्द्र व्याकरण में इसके स्थान में **पुर** पाया जाता है। परन्तु भोज के इस गण[1] में **मुर** तथा **पुर** दोनों ही शब्द पाये जाते हैं।

आकृतिगणों में शब्दवृद्धि—भोज के गणपाठ में भी अन्य अर्वाचीन वैयाकरणों के समान आकृतिगणों में शब्दों की पर्याप्त परिवृद्धि पाई जाती है। उदाहरण के लिये **स्वरादि**[2] **चादि**[3] **मयूरव्यंसकादि**[4] जैसे गणसम्बन्धी सूत्रों को देखा जा सकता है।

गणसूत्रों का स्वतन्त्र सूत्रीकरण—पाणिनीय गणपाठ मे मिलने वाले गणसूत्रों को स्वतन्त्र सूत्रों के रूप में प्रतिष्ठित करने की प्रवृत्ति भोज के व्याकरण में भी पाई जाती है।

वैयाकरण वामन तथा उसका गणपाठ

आचार्य वामन ने जिस व्याकरण की रचना की थी, उसका नाम **विश्रान्तविद्याधर** था। इस आचार्य वामन का उल्लेख हेमचन्द्र[5] तथा वर्धमान[6] ने अपने अपने ग्रन्थों मे किया है। इस 'विश्रान्तविद्याधर' व्याकरण की एक व्याख्या मल्लवादी ने की थी, जिसका नाम 'न्यास' था।[7] यह व्याकरण सम्प्रति अनुपलब्ध है, परन्तु इस व्याकरण के गणपाठ की उपादेयता का निश्चय वर्धमान द्वारा अनेक स्थलों पर ससम्मान उद्धृत किये गये वामन के गणपाठ के विभिन्न पाठभेदों तथा मतों से हो जाता है। वामन द्वारा निर्धारित नये **केदारादि गण** के शब्दों का उपसंख्यान तथा व्याख्या करते हुए **केदारादौ वामनाचार्यदृष्टे** इस प्रकार के प्रतिष्ठासूचक वाक्य से वर्धमान ने उस गण की समाप्ति की है।[8] इससे आचार्य वामन के वैशिष्ट्य का भले प्रकार परिचय मिलता है।

---

१. द्र० भो० ४। ४। १४४–१५३॥ २. भो० १। १। १७६–१७८॥

३. भो० १। १। ११८–१२६॥ ४. भो० ३। २। १०६–१२१॥

५. द्र०—संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४३१।

६. द्र०—'वामनो विश्रान्तविद्याधरव्याकरणकर्त्ता। गणरत्नमहोदधि पृष्ठ २।

७. द्र०—शब्दशास्त्रे च विद्यान्तविश्राधरवराभिधे।
न्यासंचक्रेऽल्पधीवृन्दबोधनाय स्फुटार्थकम्॥
संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४३१।

८. गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ १६५, श्लोक २५८।

इसी प्रकार पाणिनि के **शण्डिकादि** गण के प्रथम शब्द के स्वरूप के विषय में वर्धमान के **शुण्डिका ग्रामः अभिजनोऽस्य शौण्डिक्यः। अयं वामनमताभिप्रायः। पाणिन्यादयस्तु शण्डिकस्य ग्रामजनपदवाचिनः शाण्डिक्य इत्युदाहरन्ति** कथन[1] से पाणिनि तथा वामन के दो परस्पर विरोधी विचारों का भी पता लगता है। इससे अधिक वामन के गणपाठ के विषय हमें कुछ भी परिचय नहीं है।

भद्रेश्वर तथा उसका गणपाठ

वर्धमान के **प्रवरदीपककर्तृयुक्ता.**[2] श्लोक की उसी के द्वारा की गयी **दीपककर्त्ता भद्रेश्वरसूरिः। प्रवरश्चासौ दीपककर्त्ता च प्रवरदीपककर्त्ता। प्राधान्यं चास्याधुनिकवैयाकरणापेक्षया**[3] व्याख्या से जहां हमें यह पता लगता है कि भद्रेश्वर सूरि ने '**दीपक**' नामक किसी व्याकरण की रचना की थी, वहां यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह भद्रेश्वर सूरि वर्धमान की दृष्टि मे आधुनिक होता हुआ भी तत्कालीन वैयाकरणों मे अत्यधिक प्रतिष्ठित था। अत एव उसके लिये 'प्रवर' विशेषण लगाना वर्धमान को आवश्यक जान पड़ा। माधवीय धातुवृत्ति मे '**श्रीभद्र**' के नाम से उद्धृत व्याकरण-विषयक अनेक मतों कें श्रीभद्रेश्वर सूरि के व्याकरण से सम्बद्ध होने की सम्भावना श्री पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक ने उपस्थित की है।[4]

इस भद्रेश्वर सूरि के गणपाठ के विषय में इतना ही पता लगा सका है कि इस गणपाठ में पाणिनि के **प्रियादि** गण का नाम लाघव की दृष्टि से **स्वादि** गण रखा गया था, तथा गण के प्रारम्भ में **प्रिया** शब्द के स्थान पर **स्वा** शब्द को स्थान दिया गया था। इसकी सूचना हमें वर्धमान की गणरत्नमहोदधि[5] तथा पाणिनीय गणपाठ के हस्तलेख नं० ३ में मिलने वाले प्रियादि गण विषयक उल्लेख—

भद्रेश्वराचार्यस्तु—

किंच स्वा दुर्भगा कान्ता रक्षान्तनिचितासमाः।
सचिवा चपला भक्तिर्बाल्येति स्वादयो दश।

१. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ २०४। २. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ २।
३. गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २।
४. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग १ पृष्ठ ४४८।
५. गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ ६८।

से मिलती है। पाणिनि के 'प्रियादि' नाम के स्थान पर मिलने वाला यह स्वादि नाम सम्भवतः भद्रेश्वराचार्य द्वारा ही निर्धारित किया गया होगा, क्योंकि सम्प्रति उपलब्ध किसी भी वैयाकरण के गणपाठ में प्रियादि-गण का यह नाम हमे कहीं उपलब्ध नही हुआ।

इससे अधिक इस वैयाकरण के व्याकरण तथा तत्सम्बद्ध गणपाठ के विषय मे अब तक हम कुछ नही जान सके।

अरुणदत्त का गणपाठ

अरुणदत्त के अभिप्रायानुसार वर्धमान ने अपने **अर्धर्चादि** गण मे शब्दों की एक विस्तृत सूची उपस्थित की है।[1] अतः यह संभावना की जासकती है कि अरुणदत्त ने भी किसी गणपाठ का निर्धारण किया था। यह गणपाठ सम्प्रति अनुपलब्ध है। 'अष्टांगहृदय' का व्याख्याता सम्भवतः यही अरुणदत्त है।

वर्धमान तथा उसकी गणरत्नमहोदधि

११४० ईस्वी मे[2] किसी अज्ञात व्याकरण से सम्बन्ध रखने वाले गणपाठ के शब्दों का छन्दोबद्ध संकलन एवं उसकी विस्तृत व्याख्या के रूप मे वर्धमान ने अपने महान् एवं अनुपम 'गणरत्नमहोदधि' नामक ग्रन्थ की रचना की। वर्धमान ने इस ग्रन्थ के मूल श्लोकों तथा विशेष कर व्याख्या में अपने से प्राचीन सभी वैयाकरणों के उन उन शब्द विषयक विभिन्न सभी पाठभेदों तथा मतों को यथावसर प्रस्तुत किया है। इनमें—

१–वृद्ध वैयाकरण
२–द्रमि(वि)ड़ वैयाकरण
३–पाणिनि
४–चन्द्रगोमी
५–पारायणिक विद्वान्
६–अभयनन्दी
७–शकटाङ्गज (पाल्यकीर्ति)
८–वामन
९–श्रीभोज
१०–हेमचन्द्र

---

१. अरुणदत्ताभिप्रायेणैते दर्शिताः। गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ ६४, श्लोक ७७ की व्याख्या के अन्त में।

२ सप्तनवत्यधिकेष्वेकादशसु शतेष्वतीतेषु।
वर्षाणां विक्रमतो गणरत्नमहोदधिर्विहितः॥ गणरत्नमहोदधि पृष्ठ २५१।

११–रत्नमति
१२–अरुणदत्त
१३–भद्रेश्वर

इन वैयाकरणों के नामोल्लेख पूर्वक स्पष्ट निर्देश विशेष महत्त्व के है। इनके अतिरिक्त बहुत से अन्य वैयाकरणों को **एके, कश्चित्** आदि सर्वनामों से स्मरण किया गया है।

इसकी टीका मे वर्धमान ने स्वसंबद्ध व्याकरण के अनुसार उन उन गणसम्बन्धी सूत्रों का निर्देश, शब्दों के विस्तृत अर्थ, उनके लिये विभिन्न ग्रन्थों के तथा कहीं स्वरचित प्रयोग, विशिष्ट शब्दों के तत्तद्‌ गणों मे पढ़े जाने के प्रयोजन पर विचार तथा गणसूत्रों की व्याख्या आदि आदि प्रसंग अत्यन्त विद्वत्ता के साथ उपस्थित किये है। वास्तविकता तो यह है कि संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में गणपाठ के साथ की गयी अत्यधिक उपेक्षा का सर्वथा सन्तोषप्रद उत्तर अपने इस अनुपम ग्रन्थ द्वारा वर्धमान ने दिया है।

कात्यायन द्वारा निर्धारित गणों का स्वीकरण–पाणिनीय गणपाठ में पठित गणों के साथ साथ कात्यायन की वार्तिकों में सन्निविष्ट निम्न गणों को वर्धमान ने सर्वथा अभिन्न रूप में अपनाया है। यह दूसरी बात है कि वर्धमान ने इन गणों की शब्दसम्पत्ति में यथेष्ट परिवृद्धि की है। वे गण ये हैं—

१–अहरादि पत्यादि[1]
२–कुक्कुटाण्डादि[2]
३–गिरिनद्यादि[3]
४–आद्यादि[4]
५–कम्बोजादि[5]
६–खलादि[6]
७–अध्यात्मादि[7]
८–देवासुरादि[8]
९–स्वर्गादि[9]
१०–सुस्नातादि[10]
११–पारदारादिगण[11]
१२–प्रभूतादिगण[12]

---

१ गणरत्नमहोदधि पृष्ठ २६।
२. वही, पृष्ठ ६७, ६८।
३. वही, पृष्ठ १०६।
४. वही, पृष्ठ १२२, १२३।
५. वही, पृष्ठ १३५।
६. वही, पृष्ठ १६६।
७. वही, पृष्ठ १८६, १८७।
८. वही, पृष्ठ २०३।
९. वही, पृष्ठ २०६।
१०. वही, पृष्ठ २११, २१२।
११. वही, पृष्ठ २१२।
१२. वही, पृष्ठ २१२।

१३–सम्पादादि[१] **१४–मूलविभुजादि**[२]

कात्यायन के कुछ गणों का नाम परिवर्तन—कात्यायन द्वारा निर्धारित एवं अपने वार्तिकों में सन्निवेशित, कुछ गणों के नामों को वर्धमान ने बदला भी है। यथा–**क्षिपकादि** के स्थान पर **यदादिगण**[३] तथा **पुण्याहवाचनादि** के स्थान पर **स्वस्तिवाचनादि**।[४]

कात्यायन की वार्तिकों की दृष्टि से नये गणों का निर्धारण– इसके अतिरिक्त कात्यायन की कुछ वार्तिकों की दृष्टि से नये गणों का भी निर्धारण वर्धमान ने किया है। यथा—**आहृतप्रकरणे वारिजंगल०**[५] तथा **अजपथशंकु०**[५] इन दो वार्तिकों की दृष्टि से नये **अजादि**[६] गण का निर्धारण।

पाणिनि के दीर्घकाय सूत्रों की दृष्टि से नये गणों की कल्पना—पाणिनि के कुछ दीर्घकाय सूत्रों की दृष्टि से भी कुछ नये गणों की कल्पना वर्धमान की गणरत्नमहोदधि मे साकार हुई है। यथा—**जानपदकुण्डगोण०**[७] इस बड़े सूत्र के लिये **कुण्डादि पात्रादि**[८] का निर्धारण, **ज्योतिर्जनपद०**[९] के लिये शाकटायन निर्धारित **धर्मादिगण** के स्थान पर **पत्त्रादि** गण[१०] तथा इसी प्रकार **पाणिनि** के **असन्दीवदष्ठीवत्०**[११] तथा **उदन्वानुदधौ च**[१२] के स्थान पर उदन्वादिगण[१३] की कल्पना द्रष्टव्य है।

चन्द्रगोमी निर्धारित गणों का स्वीकरण–आचार्य चन्द्रगोमी के गणपाठ का भी वर्धमान ने पर्याप्त अनुकरण किया है। चान्द्र गणपाठ के द्वारा निर्धारित जिन गणों को वर्धमान ने अभिन्न रूप में अपना लिया है, वे निम्न प्रकार हैं:—

---

१. गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २४६, २४८। २. वही, पृष्ठ २५१।
३. वही, पृष्ठ ५२। ४. वही, पृष्ठ २०६ २१०।
५. महा० ५।१।७७। ६. गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २०७।
७. पा० ४।१।४२॥ ८. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ ४६, ५०।
९. पा० ६।३।८५॥ १०. गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ १०६।
११. पा० ८।२।१२॥ १२. पा० ८।२।१३॥
१३. गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २३१।

१–**नभ्राडादि गण।**[1]
२–**रूपादि गण।**[2]
३–**ऋत्वादि गण।**[3]
४–**चूडादि गण।**[4]
५–**ज्योत्स्नादि गण।**[5]
६–**कृष्यादि गण।**[6]
७–**ऊषादि गण।**[7]

चन्द्रगोमी के कुछ गणों का नाम परिवर्तन—परन्तु इसके साथ ही चन्द्रगोमी के **कल्पादि** को **ब्रह्मादि**[8] नाम देकर, तथा **केशादि** को, संभवतः हेमचन्द्र के अनुकरण[9] पर **मरायादि** नाम देकर वर्धमान ने अपनी गणरत्न-महोदधि मे प्रतिष्ठित किया है।

शाकटायन तथा हेमचन्द्र के गणों का स्वीकरण—इसी प्रकार शाकटायन तथा हेमचन्द्र द्वारा निर्धारित **भेषजादि**[11] गण को **अनन्तादि**[12] गण के रूप मे तथा **संशयादि**[13] **और निकटादि**[14] गणों को अभिन्न रूप मे ही वर्धमान ने अपना लिया है।

वामन तथा भोज के गणों का स्वीकरण—उक्त वैयाकरणों के उपरिनिर्दिष्ट गणों के साथ वामन के **केदारादि**,[15] श्रीभोज के **किंशुकादि**,[16] **वृन्दारकादि**,[17] **मतल्लिकादि**[18] तथा **खसूच्यादि** गणों[19] को भी वर्धमान ने अपनी गणरत्नमहोदधि मे प्रतिष्ठित किया है। अष्टाङ्गहृदय के व्याख्याता अरुणदत्त के अभिप्रायानुसार भी वर्धमान ने अर्धर्चादिगण में शब्दों की एक

१. अयं गणश्चन्द्रदुर्गाद्यभिप्रायेण। गणरत्नमहोदधि. पृष्ठ १०५, १०६।
२. चन्द्रादिमतं तु रूपादौ। वही, पृष्ठ १०७।
३. वही, पृष्ठ २०७, २०८।
४. वही, पृष्ठ २०६।
५. वही, पृष्ठ २३१, २३२।
६. वही, पृष्ठ २३७, २३८।
७. वही. पृष्ठ २३८, २३६।
८. वही, पृष्ठ १११।
६. द्र० हे० ७।२।४४॥
१०. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ २३५, २३६।
११. द्र० शा० ३।४।१२७; हे० ७।२।१६४॥
१२. गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ १२०, १२१।
१३. वही, पृष्ठ २०७।
१४. वही, पृष्ठ २१४, २१५।
१५. वही, पृष्ठ १६५।
१६. वही, पृष्ठ ८३।
१७. वही, पृष्ठ ८५।
१८. वही, पृष्ठ ८५, ८६।
१६. वही, पृष्ठ ८६।

अच्छी विस्तृत सूची दी है।[1] **कस्कादि** गण[2] में **सर्पिष्कुण्डिका** आदि शब्दों को पारायणिक विद्वानों के मतानुसार उपस्थित करके भी वर्धमान ने उन से अपनी असहमति दिखाई है।

पाणिनि के अनेक गणों का नाम परिवर्तन—अपने से पूर्वाचार्य चन्द्रगोमी आदि की पद्धति का अनुकरण करते हुए वर्धमान ने भी पाणिनिस्वीकृत, अनेक गणों के नामों को परिवर्तित कर दिया है। जिनमे ये द्रष्टव्य हैं–

पाणिनि		**वर्धमान**
बह्वादि	का	**शोणादि**[3]
अश्वपत्यादि	का	**धनादि**[4]
सन्धिवेलादि	का	**सन्ध्यादि**[5]
इन्द्रजननादि	का	**शिशुक्रन्दादि**[6]
अनुप्रवचनादि	का	**उत्थापनादि**[7]
देवपथादि	का	**अर्चादि**[8]
किंशुलकादि	का	**अंजनादि**[9]

पाणिनि के अनेक गणों का एक गण में समावेश—इसी प्रकार पाणिनि के अनेक गणों का एक गण मे समावेश करने की प्रक्रिया भी वर्धमान की गणरत्नमहोदधि मे पर्याप्त रूप में पाई जाती है। यथा—**सिन्ध्वादि**[10] में **तक्षशिलादि** का समावेश, **तालादि**[11] में **पलाशादि**, **बिल्वादि** तथा **रजतादि** का, **कथादि**[12] में **गुडादि** का, **ब्राह्मणादि**[13] में **पुरोहितादि** का, **युवादि**[14]

---

१. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ ५३–६४। अरुणदत्ताभिप्रायेणैते दर्शिता। पृष्ठ ६४।

२. वही, पृष्ठ ४७–४८।

३. वही, पृष्ठ २४, २६।

४. वही, पृष्ठ १६१, १६२।

५. वही, पृष्ठ १६६, १६७।

६. वही, पृष्ठ २०३।

७. वही, पृष्ठ २०६।

८. वही, पृष्ठ १२७, १२८।

९. वही, पृष्ठ ६८, ६६।

१०. द्र० वही, पृष्ठ २०३, २०४।

११. द्र० वही, १६६–१६८।

१२. द्र० वही, १६८।

१३. द्र० वही पृष्ठ २२१–२२५।

१४. द्र० वही, पृष्ठ २२६–२२८।

में **उदुगात्रादि** का, (जैनेन्द्र[1] के विपरीत) **पिच्छादि**[2] में **तुन्दादि** का तथा **बलादि**[3] गण में **व्रीह्यादि** गण तथा उसमें कात्यायन द्वारा प्रदर्शित **शिखादि** आदि अवान्तरगण का समावेश द्रष्टव्य है ।

पाणिनीय सूत्र निर्दिष्ट शब्दों का गणों में समावेश—इसके अतिरिक्त वर्धमान ने पाणिनि के सूत्रों में निर्दिष्ट अनेक शब्दों का भी उस उस प्रसंग के गणों मे, समावेश करने का प्रयास किया है । यथा–पाणिनि के **अत्रिभृगुकुत्स०**[4] सूत्र में पठित शब्दों का **यस्कादि**[5] गण मे समावेश तथा **दामन्यादि**[6] गण मे **त्रिगर्तषष्ठ**[7] शब्द मे निर्दिष्ट शब्दों का अन्तर्भाव ।

पाणिनि के कुछ गणों का परित्याग—वर्धमान ने पाणिनि के कतिपय गणों का परित्याग भी किया है । यथा—**सपत्न्यादि, प्लक्षादि, हरीतक्यादि, रसादि** । अन्य अर्वाचीन वैयाकरणों के समान वर्धमान ने भी स्वर तथा वेदविषयक गणों को छोड़ दिया है

पठितगणों का आकृतिगण में परिवर्तन—वर्धमान ने पाणिनीय सम्प्रदाय में पठितगणों के रूप में स्वीकृत किये गये अनेक गणों को आकृतिगण के रूप मे अपनाया है । इनमे **शौनकादि**[8], **अक्षद्यूतादि**[9], **दण्डादि**[10], **अरीहणादि**[11] आदि १८ गण विशेषरूपेण द्रष्टव्य हैं । साथ ही चन्द्रगोमी पाल्यकीर्ति, वामन तथा भोज आदि के अनेक गणों को तथा स्वनिर्धारित **कुण्डादि पात्रादि**[12] तथा **वारादि**[13] जैसे अनेक गणों को आकृतिगण के रूप में प्रतिष्ठित करके व्याकरण के सुबद्ध नियमों को पर्याप्त व्यापकता प्रदान की है ।

---

१. द्र० जै०, ४ । १ । ४३ ॥ २. द्र० गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २३२ ।
३. द्र० वही, पृष्ठ २३५ । ४. पा० २ । ४ । ६५ ॥
५. द्र० गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ ३०, ३१ ।
६. द्र० वही, पृष्ठ १३४, १३५ । ७. द्र० पा० ५ । ३ । ११६ ॥
८. द्र० गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ १८२ । ९. द्र० वही, पृष्ठ २१४ ।
१०. द्र० वही, पृष्ठ २११ ।
११. एते अष्टादश आकृतिगणा वेदितव्याः । अन्यैस्तु नैयत्यमेषां प्रतिपादितम् । वही, पृष्ठ १८१ ।
१२. वही. पृष्ठ ४६–५१ । १३. द्र० वही, पृष्ठ २४७ ।

इसके अतिरिक्त पाणिनि सम्प्रदाय में आकृतिगण के रूप में स्वीकृत **मयूरव्यंसकादि**[1] अथवा **पृषोदरादि**[2] जैसे गणों मे ढूंढ ढूंढ कर शब्दों के महान् समूह को उपस्थित करके अपने ग्रन्थ के 'गणरत्नमहोदधि' नाम को चारितार्थ करने का सफल प्रयास वर्धमान ने किया है।

कातंत्र व्याकरण में प्राप्त गण

कालक्रम की दृष्टि से कलाप अथवा कातन्त्र व्याकरण का समय लगभग ईसा की प्रथम शताब्दी होने के कारण इस व्याकरण को पाणिनि के पश्चात् ही स्थान दिया जाना चाहिये था, परन्तु इसकी पर्याप्त संक्षिप्तता तथा इसमे विद्यमान गणों की न्यूनता के कारण इस के विषय मे यहां कुछ कहना अधिक उचित जान पड़ा।

डा० बर्नेल ने पाणिनि के सात सूत्रों[3] का सम्बन्ध जिन में **प्राचाम्** शब्द का प्रयोग किया गया है (जिसका अर्थ प्राक्कालीन वैयाकरण है, न कि प्राची दिशा के वैयाकरण) ऐन्द्र व्याकरण से स्थापित किया है। साथ ही कातन्त्र व्याकरण में '**प्राचाम्**' पदरहित इन सात सूत्रों की सत्ता दिखाकर कातन्त्र व्याकरण को ऐन्द्र व्याकरण का अनुयायी सिद्ध किया है।[4] प्रसिद्ध ऐतिहासिक तारानाथ का कथन[5] भी इस बात की पुष्टि करता हुआ प्रतीत

---

१. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ ८६–९१। २. द्र० वही, पृष्ठ १००–१०४।

३. अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा। पा० ३। ४। १८॥

शोणात् प्राचाम्। पा० ४। १। ४३॥

प्राचामवृद्धात्फिन् बहुलम्। पा० ४। १। १६०॥

प्राचामुपादेरडज्वुचौ। पा० ५। ३। ८०॥

एकाच्चप्राचाम्। पा० ५। ३। ९४॥

खार्याः प्राचाम्। पा० ५। ४। १०१॥

गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्। पा० ८। २। ८६॥

४. द्र० आन दी ऐन्द्रस्कूल आफ संस्कृत ग्रमेरियन्स, पृष्ठ २४, तथा उसके आगे।

५. द्र० दी इण्डियन एन्टिक्वेरी, अप्रैल १८७५, पृष्ठ १०२, तथा उससे आगे।

होता है। बर्नेल की यह भी धारणा है कि ऐन्द्र व्याकरण में गणशैली का प्रयोग नहीं किया गया था।[1] परन्तु कातन्त्रव्याकरण मे सम्भवतः पाणिनि से प्रभावित होने के कारण कुछ गणों के दर्शन हो जाते है, जिन्हें कातन्त्र-व्याकरण की संक्षिप्तता को देखते हुए पर्याप्त कहा जा सकता है।

यह कातंत्रव्याकरण तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग प्रारम्भ से लेकर आख्यात पर्यन्त, द्वितीय भाग कृदन्त तथा तृतीय भाग छन्दोविषयक है। इन में प्रथम भाग ही प्राचीन तथा मूलग्रन्थकार द्वारा रचित माना जाता है। कृदन्त भाग के रचयिता कात्यायन माने जाते हैं। कातन्त्रवृत्तिकार दुर्गसिंह ने कृदन्त के प्रारम्भ में ही–

वृक्षादिवदमी रूढाः न कृतिना कृता कृतः।
कात्यायनेन ते शिष्टा विबुधप्रतिपत्तये॥

इस श्लोक को लिखकर यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि इस अंश को कात्यायन ने बाद में जोड़ा। जहां तक इस व्याकरण के वैदिक प्रकरण का सम्बन्ध है, ऐतिहासिकों की यह स्वीकरणीय धारणा है कि यह भाग १६ वीं शताब्दी में इस व्याकरण में जोड़ा गया।

जो कुछ भी हो, इस व्याकरण के प्रथम भाग में पाणिनि के **स्वस्त्रादि**,[2] **गर्गादि**,[3] **यस्कादि**,[3] **बिदादि**,[3] **कुञ्जादि**,[4] **बाह्वादि**,[5] **गवादि**[6] तथा **शरत्-प्रभृति**[7] गण सर्वथा अभिन्न रूप में स्वीकृत हुए है। पाणिनि का सर्वादि गण भी अपने अवान्तर गण त्यदादि के साथ यहां दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि यहां शब्दपाठ का क्रम पाणिनीय क्रम से थोड़ा सा भिन्न है। क्योंकि **किम्** शब्द को **एक**, **द्वि** आदि शब्दों में पूर्व ही यहां रखा गया है जबकि पाणिनि ने जान-बूझ कर सर्वादि गण में उसे सब से अन्त में रखा था और इसके कारण ही पाणिनि को अपने **किंसर्वनाम बहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः** सूत्र[8] में **'किम्'** शब्द को स्थान देना आवश्यक हो गया था। यदि **किम्** को **द्वि** आदि से पहले ही

१. द्र० आन दी ऐन्द्रस्कूल आफ संस्कृत ग्रामेरियन्स, पृष्ठ २४।
२. कातं० २।१।६६।
३. कातं० २।४।६।
४. कातं० २।६।३।
५. कातं० २।६।६।
६. कातं० २।६।११।
७. कातं० २।६।४१–४२।
८. पा० ५।३।२।

स्थान देदिया होता तो उपरोक्त सूत्र में 'किम्' शब्द को न रखते हुए इस सूत्र को लघु किया जा सकता था। इन गणों के साथ ही इसी भाग मे पाणिनि का **गौरादि** गण भी मिलता है परन्तु उसका नाम यहां गौरादि न हो कर **नदादि**[1] है।

इस व्याकरण के दूसरे–कृदन्त–भाग मे पाणिनि के **नन्द्यादि,**[2] **ग्रहादि,**[3] **पचादि,**[4] **गम्यादि,**[5] **भिदादि,**[6] **भीमादि**[7] तथा **न्यङ्क्वादि**[8] गण भी अपरिवर्तित रूप मे ही मिलते हैं।

इस व्याकरण के तृतीय भाग 'कातंत्रछन्दःप्रक्रिया' में पाणिनि के कुछ छन्दोविषयक सूत्रों की दृष्टि से कुछ नये गणों का निर्धारण किया गया है। पाणिनि के **केवलमामकभागधेय०**[9] सूत्र की दृष्टि से **केवलादि,**[10] **कद्रुकमण्डल्वोश्छन्दसि**[11] की दृष्टि से **कद्र्वादि,**[12] **छन्दोगौक्थिक०**[13] की दृष्टि से **छन्दोगादि**[14] तथा **मंत्रे सोमाश्वेन्द्रय०**[15] की दृष्टि से **सोमादि**[16] गण का निर्धारण द्रष्टव्य है।

उपरि निर्दिष्ट गणों में **नदादि, गर्गादि कुञ्जादि** तथा **बाह्वादि** को इस व्याकरण मे आकृतिगण के रूप मे माना गया है। शेष प्रतिपदपाठ या पठित गण के रूप में देखे जाते हैं।

सारस्वत व्याकरण में प्राप्त गण

१२५० ईस्वी के लगभग[17] सम्भवतः आचार्य नरेन्द्र[18] ने सारस्वत सूत्रों की रचना की। जिनके आधार पर अनुभूतिस्वरूप ने अपनी सारस्वत प्रक्रिया का निर्माण किया। संक्षिप्तता एवं लघुता की प्रतियोगिता में इस

---

१. कातं० २ । ४ । ५० ॥ २. कातं० ४ । २ । ४६ ॥
३. कातं० ४ । २ । ५० ॥ ४. कातं० ४ । २ । ४८ ॥
५. कातं० ४ । ४ । ६८ ॥ ६. कातं० ४ । ५ । ८२ ॥
७. कातं० ४ । ६ । ५१ ॥ ८. कातं० ४ । ६ । ५७ ॥
९. पा० ४ । १ । ३० । १०. का० छ० प्र० पृष्ठ १०० ॥
११. पा० ४ । १ । ७१ । १२. का० छ० प्र० पृष्ठ १०२ ॥
१३. पा० ४ । ३ । १२९ ॥ १४. का० छ० प्र० पृष्ठ ११६ ॥
१५. पा० ६ । ३ । १३१ ॥ १६. का० छ० प्र० पृष्ठ १४८ ॥
१७. द्र० सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ९१–९२ ॥ १८–वही, पृष्ठ ९५ ।

व्याकरण ने, जैनेन्द्र, कातन्त्र तथा मुग्धबोध जैसे व्याकरणों को भी, जिनकी रचना का एकमात्र उद्देश्य ही पाणिनि की अष्टाध्यायी को यथासम्भव संक्षिप्त एवं संशोधित रूप मे उपस्थित करना था पीछे रख दिया। ऐसा इसलिये कहना पड़ रहा है कि अपनी सारी बुद्धि तथा उपायों को प्रयोग में लाने के उपरान्त भी इन व्याकरणों के प्रवक्ता विद्वानों का क्रमश; ३०००, १४०० तथा १२०० सूत्रों से कम मे कार्य न चल सका, जब कि सारस्वत व्याकरण के प्रतिष्ठापक ने केवल ७०० सूत्रों के आधार पर ही अपने व्याकरण का पूरा ढांचा तैयार कर लिया। पाणिनि के ४००० सूत्रों से तुलना करने पर तो यह संक्षिप्तता एक आश्चर्य का रूप धारण कर लेती है। डा० बेल्वाल्कर ने सारस्वत सूत्रों की इस न्यूनता को देखते हुए, कातंत्र व्याकरण के समान, सारस्वत-व्याकरण की रचना को भी तत्कालीन एक निश्चित आवश्यकता का परिणाम माना है।[1]

अपनी इस विशिष्ट संक्षिप्त शैली की दृष्टि मे यह स्वाभाविक ही था कि पाणिनि के बहुत से गण इस व्याकरण के गणपाठ में स्थान न पा सकते। पुनरपि यहां **सर्वादि** गण[2] एक गण मे समाविष्ट होकर, **स्वरादि**[3] तथा **चादि** गण,[4] कात्यायन द्वारा उपसंख्यात[5] **श्रत्** और **अन्तर्** शब्द तथा '**आविस्**' शब्द से युक्त **प्रादि** गण[6] तथा कात्यायन के **सम्भस्त्राजिनशणपिण्डेभ्यः फलात्**[7] इत्यादि वार्तिकों के उदाहरणभूत शब्दों के साथ **अजादि** गण[8] द्रष्टव्य हैं।

इनके अतिरिक्त पाणिनि के वे गण जो सर्वथा अभिन्न रूप में ही अपना लिये गये हैं, वे ये हैं:—

१–क्रौड्यादि गण[9] **२–पात्रेसमितादि गण**[10]

---

१. द्र० सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ६२–६३।

२. सि० च० ७। २२। ३. वही, १४। १।

४. वही, १४। २। ५. द्र० महा० १। ४। ५६।

६. सि० च० १४। ३। ७. महा० ४। १। ६४।

८. सि० च० १५। २२। ९. वही, १५। ५५।

१०. वही, १७। २१।

३–शरादि गण[1]
४–अजिरादि गण[2]
५–अर्धर्चादि गण[3]
६–शिग्रादि गण[4]
७–बाह्वादि गण[5]
८–गर्गादि गण[6]
९–नडादिगण[6]
१०–पील्वादिगण[7]
११–कर्णादि गण[7]
१२–यवादि गण[8]
१३–लोमादि गण[9]
१४–पामादि गण[9]
१५–पिच्छादि गण[9]
१६–द्वारादि गण[10]

पाणिनि के कुछ गण अपने परिवर्तित नाम के साथ यहाँ भी देखे जासकते है। यथा **गौरादि** को **नद्रादि**, [11]**बाह्वादि** को **पद्धत्यादि**,[12] **सपत्न्यादि** को **पत्न्यादि**,[13] **शुभ्रादि** को **अत्र्यादि**[14] तथा **व्रीह्यादि** को **तडिदादि**[15] के रूप मे यहां के गणपाठ में प्रस्तुत किया गया है।

सारस्वतव्याकरणकार ने भी पाणिनि के कुछ सूत्रों के आधार पर, नये गणों का निर्धारण किया है। यथा **इन्द्रवरुणभवशर्व०**[16] की दृष्टि से **इन्द्रादि**,[17] **जानपदकुण्ड०**[18] के लिये **जानपदादि**[19] गण द्रष्टव्य हैं। ये दो गण सारस्वतकार से पूर्व के आचार्यों के व्याकरण मे भी मिल जाते हैं, परन्तु **पूतक्रतोरै च**,[20] **वृषाकप्यग्नि०**[21] तथा **मनोरौ वा**[22] इन सूत्रों की दृष्टि से

---

१. सि० च० १७।८९।
२. वही, १७।९०।
३. वही १७।१०२।
४. वही, १८।५।
५. वही, १८।७।
६. वही, १८।९।
७. वही, १८।५०।
८. वही, १८।१०३।
९. वही, १८।१०५।
१०. वही, १८।१६७।
११. वही, १५।२०॥
१२. वही, १५।६२॥
१३. वही, १५।६५॥
१४. वही, १८।९॥
१५. वही, १८।१०४॥
१६. पा० ४।१।४०॥
१७. सि० च० १५।२६॥
१८. पा० ४।१।४२॥
१९. सि० च० १५।४२॥
२०. पा० ४।१।३६॥
२१. पा० ४।१।३७॥
२२. पा० ४।१।३८॥

मन्वादि[1] (आकृतिगण) तथा **पितृष्वसुश्छण्**[2] और **मातृष्वसुश्च**[3] की दृष्टि से **पितृष्वस्रादि**[4] गण की कल्पना सारस्वतकार की अपनी नई सूझ है ।

पाणिनि के **ज्योत्स्नातमिस्रा०**[5] के लिये चन्द्रगोमी द्वारा निर्धारित **ज्योत्स्नादि**[6] गण भी यहाँ मिल जाता है। परन्तु पाणिनि के **ऊषशुषिमुष्कमधो रः**[7] इस सूत्र तथा कात्यायन की वार्तिक **रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्यः उपसंख्यानम्**[8] को दृष्टि मे रख कर चन्द्रगोमी द्वारा निर्धारित ऊषादिगण की कल्पना को यहाँ नहीं स्वीकार किया गया। पाणिनि के उपरोक्त सूत्र तथा कात्यायन की वार्तिक दोनों का सम्मिश्रण कर एक बड़े सूत्र - **ऊषशुषिमुष्कमधुखमुखकुञ्जनगपांशुपाण्डुभ्यः**[9] को प्रस्तुत किया गया है।

मुग्धबोध व्याकरण में प्राप्त गण

ईसा की लगभग १३ वीं शताब्दी के अन्त[10] में पाणिनि तथा कातंत्र के बीच का मार्ग अपना, संक्षिप्तता तथा सरलता दोनों को प्रधानता देते हुए, बोपदेव ने मुग्धबोध-व्याकरण की रचना की ।

इस व्याकरण मे पाणिनि के निम्न गण अपने अपरिवर्तित रूप में ही मिलते हैं —

१–स्वस्रादि गण[11]
२–अजादि गण[11]
३–बह्वादि गण[12]
४–गर्गादि गण[12]
५–नडादि गण[12]
६–रेवत्यादि गण[12]
७–शिवादि गण[12]
८–कुञ्जादि गण[13]
९–न्यङ्क्वादि गण[14]

---

१. सि० च० १५ । ६३ ॥
२. पा० ४ । १ । १३२ ॥
३. पा० ४ । १ । १३४ ॥
४. सि० च० १८ । १२८ ॥
५. पा० ५ । २ । ११४ ॥
६. सि० च० १८ । १२८ ॥
७. पा० ५ । २ । १०७ ॥
८. महा० ५ । २ । १०७ ॥
९. सि० च० १८ । १२६ ॥
१०. द्र० सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृ० १०४–१०६ ।
११. मु० बो० सूत्र २७६ ।
१२. वही, सूत्र ४१५ ।
१३. वही, सूत्र ४२७ ।
१४. वही, सूत्र २७६ ।

इनके अतिरिक्त **कल्याण्यादि**,[१] **शरत्प्रभृति**[२] तथा **द्वारादि**[३] गणों का सूत्रों में ही प्रतिपदपाठ यहां मिलता है। पाणिनि के **स्वागतादि** तथा **प्रियादि** गण भी यहां सूत्रों मे ही प्रतिपदपाठ के रूप मे उपस्थित किये गये हैं, परन्तु उनके प्रारम्भ मे क्रमशः **स्वङ्ग**[४] तथा **पूरणी**[५] आदि शब्दों को रख कर इनका नाम **स्वङ्गादि** तथा **पूरण्यादि** स्वीकार किया गया है।

पाणिनि के कुछ और भी गणों का नाम यहां बदला हुआ मिलता है। **गौरादि** का **नदादि**[६] **बह्वादि** का **शोणादि**[७] तथा **कुम्भपद्यादि** का **कुम्भादि**[८] नाम इस प्रसंग मे द्रष्टव्य हैं।

पाणिनि के सूत्र **सुधातुरकङ् च**[९] तथा तत्सम्बद्ध कात्यायन की वार्तिक **सुधातृव्यासवरुडनिषादचाण्डालबिम्बानाम्**[१०] के आधार पर चन्द्रगोमी द्वारा निर्धारित **व्यासादि** गण[११] यहां भी विद्यमान है।[१२] इसी प्रकार पाणिनि के **शुभ्रादि** गण के स्थान पर सारस्वतकार द्वारा निर्धारित नया नाम **अत्र्यादि**[१३] भी यहां देखा जा सकता है।[१४] साथ ही सारस्वतकार द्वारा स्वयं कल्पित **पितृष्वस्रादि**[१५] भी यहां[१६] स्थित है।[१७]

सम्भवतः मुग्धबोधकार द्वारा ही निर्धारित **तन्वादि** गण इस व्याकरण का एक विशिष्ट गण है।

यहां यह कह देना अनुचित न होगा कि मुग्धबोध व्याकरण के टीकाकार दुर्गादास तथा रामतर्क वागीश ने अपनी टीका मे पाणिनि के सारे गणों को अतिविस्तार से प्रदर्शित किया है।

---

१. मु० बो० सूत्र ४२१।
२. वही, सूत्र ३७८–३८१।
३. वही, सूत्र ४१८।
४. वही, सूत्र ४१७।
५. वही, सूत्र ३२६।
६. मु० बो० सूत्र २५७।
७. वही, सूत्र २६५।
८. वही, सूत्र ३४८।
९. पा० ४।१।९७।
१०. महा० ४।१।९७।
११. चा० २।४।२१॥
१२. मु० बो०, सूत्र ४१६।
१३. सि० च० १८।६॥
१४. मु० बो० सूत्र ४१५॥
१५. सि० च० १८।१२८॥
१६. मु० बो० सूत्र ४१५।
१७. वही, सूत्र २७६।

जौमर सम्प्रदाय में गणपाठ

क्रमदीश्वर के **संक्षिप्तसार** नामक व्याकरण के जिसे इसके नाम के अनुसार पाणिनीय व्याकरण का अति संक्षिप्त रूप माना जाता है, सूत्रों में भी अनेक गणों का निर्देश मिलता है। इस सम्प्रदाय के श्री न्यायपञ्चानन नामक किसी वैयाकरण विद्वान् ने **गणप्रकाश** नामक ग्रन्थ की रचना भी की थी।[1]

सौपद्म सम्प्रदाय में गणपाठ

डा० बेल्वाल्कर के कथन से यह पता लगता है कि सौपद्म सम्प्रदाय मे श्रीकाशीश्वर नामक विद्वान् ने तत्सम्बद्ध गणपाठ का निर्धारण किया था, तथा श्रीरमाकान्त ने इस गणपाठ पर एक वृत्ति की रचना की थी।[2] इसी सम्प्रदाय की दृष्टि से श्री गणेश्वर के सुपुत्र श्री पद्मनाभदत्त ने '**पृषोदरादि-वृत्ति**' नामक किसी विशिष्ट ग्रन्थ की रचना १३७५ ईस्वी में की थी।[3]

प्राकृत तथा पालि व्याकरणों में गणपाठ

संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र की असीम दूरी नापने वाली गणशैली ने प्राकृत तथा पालि भाषा के व्याकरण को भी इतना अधिक प्रभावित किया कि इनके व्याकरणों के विभिन्न सूत्रों में स्थान स्थान पर गणशैली का उपयोग उपलब्ध होता है।

प्राकृत-सूत्रों में गणपाठ

वररुचि के प्राकृत-सूत्रों में निम्न गण उपलब्ध होते हैं—

१–समृद्ध्यादि गण[3]	**५–पानीयादि गण**[7]
२–शय्यादि गण[4]	**६–मुकुटादि गण**[8]
३–यथादि गण[5]	**७–ऋष्यादि गण**[9]
४–सदादि गण[6]	**८–ऋत्वादि गण**[10]

---

१. द्र० सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ १११।

२. द्र० वही, पृष्ठ वही।

३. प्रा० सू० १। २॥

४. वही, १। ५॥

५. वही, १। १०॥

६. वही, १। ११॥

७. वही, १। १८॥

८. वही, १। २२॥

९. वही, १। २८॥

१० वही. १। २९।

९–दैत्यादि गण[1]
१०–पौरादि गण[2]
११–सौन्दर्यादि गण[3]
१२–हरिद्रादि गण[4]
१३–दशादि गण[5]
१४–धूर्तादि गण[6]
१५–अन्तादि गण[7]
१६–नीडादिगण[8]
१७–सेवादि गण[9]
१८–यादादि गण[10]
१९–चक्रादि गण[11]
२०–मासादि गण[12]

इन गणों में निर्दिष्ट शब्दों का उल्लेख इन सूत्रों की भामहकृत प्राकृत-प्रकाश नाम्नी वृत्ति में मिलता है। इन गणों में न केवल पठित गण हैं, अपितु **पौरादि** तथा **मांसादि** जैसे आकृति गण भी हैं। इनके लिये सूत्रकार ने शब्दों का निर्धारण नहीं किया था। इसीलिये **मांसादि** गण की आकृतिगणता को स्वीकार करते हुए भामह ने स्पष्ट शब्दों मे यह कहा है—

तदयमपठितोऽपि मांसादिर्गणः। यत्र क्वचिद् वृत्तिभंगभयात् त्यज्यमानः क्रियमाणश्च बिन्दुर्भवति स मांसादिषु द्रष्टव्यः'।[13]

मोग्गलान के पालि व्याकरण में गणपाठ

वररुचि के समान पालि व्याकरण के सर्वश्रेष्ठ रचयिता मोग्गलान महाथेर ने भी अपने व्याकरण में, जिसके सूत्र तथा वृत्ति दोनों की रचना स्वयं मोग्गलान ने ही आज से लगभग ७५० वर्ष पूर्व की थी।[14] गणशैली का पर्याप्त उपयोग किया है। इनमे बहुत से गण तो पाणिनि तथा उनके पश्चाद्भावी संस्कृत-वैयाकरणों द्वारा ही निर्धारित हैं। अन्तर केवल इतना है कि उन्होंने पालि भाषा का चोगा पहन लिया है। वे गण ये हैं :—

---

१. प्रा० सू० १। ३६।
२. वही, १। ४२।
३. वही, १। ६४।
४. वही, २। ३०।
५. वही, २। ४४।
६. वही, ३। २४।
७. वही, ३। ३०।
८. वही, ३। ५२।
९. वही, ३। ५८।
१०. वही, ४। ५
११. वही, ४। १५।
१२. वही, ४। १६।
१३. द्र० प्रा० सू० ४। १६।
१४. द्र० पालि महाव्याकरण, भूमिका, पृष्ठ ५०–५१।

१–सर्व्वादि गण[1] (सर्वादि)
२–तिष्ठग्वादि गण[2] (तिष्ठद्गवादि)
३–पादि गण[3] (प्रादि)
४–अंगुल्यादि गण[4]
५–तारकादि गण[5]
६–कथादि गण[6]
७–पिच्छादि गण[7]
८–भिदादि गण[8]

इनमें **तिष्ठग्वादि तारकादि** तथा **भिदादि** गणों को पाणिनि के समान यहां भी आकृतिगण ही माना गया है।

इनके अतिरिक्त पाणिनि के '**अप्तृन्तृच्०**[9] सूत्र के आधार पर **पितादि-गण,**[10] **इन्द्रवरुण०**[11] के आधार **मातुलादि गण,**[12] **नभ्राण्नपात्०**[13] के आधार पर **नखादिगण,**[14] **समानस्यच्छन्दस्यमूर्द्धप्रभृत्युदर्केषु**[15] सूत्र के योगविभाग द्वारा सिद्ध किये जाने वाले शब्दों तथा **ज्योतिर्जनपद**[16] सूत्र मे गिनाये गये शब्दों के लिये चन्द्रगोमी प्रभृति पूर्वाचार्यो द्वारा निर्धारित **पत्नादि** गण के अनुकरण पर **पक्खादि** गण,[17] **ग्रामजनबन्धुसहायेभ्य-स्तल्**[18] के आधार पर **जनादि गण,**[19] **ऊपशुषिमुष्कमधो रः**[20] पाणिनि के सूत्र तथा इससे सम्बद्ध कात्यायन की वार्तिक **रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्य ऊपसंख्यानम्**[21] की दृष्टि से चन्द्रगोमी आदि वैयाकरणों द्वारा निर्धारित **ऊषादि** गण के स्थान पर **मुखादि** गण[22] तथा पाणिनि के **शब्दवैरकलहा-भ्रकण्वमेघेभ्यः करणे**[23] सूत्र के आधार पर **सद्दादि गण**[24] का निर्धारण

१. मो० ग० २ । १०१ ।
२. वही, ३ । ७ ।
३. वही, ३ । १३ ।
४. वही, ४ । ३५ ।
५. वही, ४ । ४५ ।
६. वही, ४ । ७४ ।
७. वही, ४ । ८७ ।
८. वही, ५ । १५० ।
९. पा० ६ । ४ । ११ ।
१०. मो० ग० २ । ४९ ।
११. पा० ४ । १ । ४० ।
१२. मो० ग० ३ । ३३ ।
१३. पा० ६ । ३ । ७५ ।
१४. मो० ग० ३ । ७६ ।
१५. पा० ६ । ३ । ८४ ।
१६. पा० ६ । ८५ ।
१७. मो० ग० ३ । ८३ ।
१८. पा० ४ । २ । ४३ ।
१९. मो० ग० ४ । ६९ ।
२०. पा० ५ । २ । १०७ ।
२१. महा० ५ । २ । १०७ ।
२२. मो० ग० ४ । ३५, ८२ ।
२३. पा० ३ । १ । १७ ।
२४. मो० ग० ५ । १० ।

पालि भाषा के इस वैयाकरण ने किया है। कातन्त्र व्याकरण के अनुकरण पर पाणिनि के **गौरादि** गण को यहां भी **नदादि**[1] नाम देकर अपनाया गया है।

इन गणों के अतिरिक्त मोग्गलान ने अन्य **तदिभिनादि**,[2] **भज्जादि**,[3] **हरादि**[4] जैसे ३८ गणों का निर्धारण, पालि भाषा के नवीन तथा विभिन्न शब्दों के साधुत्व की दृष्टि से किया है।

---

१. मो० ग०, ३। २७।
२. वही, १। ४७।
३. वही, ५। १५४।
४. वही, २। ५।

पंचम अध्याय

पाणिनीय गणपाठ का महत्त्व

आचार्य पाणिनि से पूर्ववर्ती विभिन्न वैयाकरणों के पूर्व प्रदर्शित गणपाठ विषयक विभिन्न निर्देशों तथा सूचनाओं से यह भले ही प्रमाणित हो जाय कि पाणिनि से पूर्व ही गणशैली से संस्कृत-व्याकरण सनाथित हो चुका था, परन्तु पाणिनि के गणपाठ के समान पूर्ण विकसित, सुव्यवस्थित तथा क्रम-बद्ध गणपाठ का निर्धारण पाणिनि से पूर्ववर्ती किसी अन्य वैयाकरण ने किया था, ऐसा संभवतः नहीं कहा जा सकता। न्यूनातिन्यून आज की इस परिस्थिति में, जब कि पाणिनि से प्राचीन व्याकरण-सामग्री का सर्वथा अभाव है। इस रूप में हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि पाणिनि ही वह सर्वप्रथम वैयाकरण है जिसने लौकिक तथा वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों के यथासंभव सुव्यवस्थित अन्वाख्यान, एवं स्वरविषयक सूक्ष्म दृष्टि से विशाल गणपाठ का निर्धारण कर उसका अपने सूत्रों में प्रचुर प्रयोग करते हुए सूत्र-शैली में अपूर्व निष्णातता दिखाई।

पाणिनि के पश्चात् आने वाली वैयाकरण परम्परा ने, जैसा कि पूर्व दिखाया जा चुका है, पाणिनीय-गणपाठ के ही मूल गणों में सामान्यतया न्यूनाधिक परिवर्तन करके (जिसके लिये उन्हें कोई विशेष श्रेय नहीं दिया जा सकता,) अपने अपने गणपाठ की साम्प्रदायिक भित्तियां खड़ी की हैं। जिनके लघु एवं अतीव सीमित प्राङ्गण में, पाणिनीय-गणपाठ के स्वर तथा वैदिक शब्दों के अन्वाख्यान सम्बन्धी गणों को स्थान न मिल सका। कातंत्र, सारस्वत तथा मुग्धबोध जैसे व्याकरण सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत गणपाठ तो पाणिनीय गणपाठ के महानद के समक्ष साधारण नाले प्रतीत होते हैं। जिनमें उसी नद की साधारण जल-धारा प्रवाहित हो रही है।

मोग्गलान के पालि तथा कच्चायन (कात्यायन) के प्राकृत व्याकरणों के अध्ययन से पता लगता है, कि पालि प्राकृत जैसी भाषाओं के व्याकरणपादपों को भी, पाणिनि द्वारा प्रवाहित गणपाठ रूप इस महानद से ही सींचा जाता रहा है।

इस प्रकार प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी व्याकरणों को अपनी विशालता, व्यापकता एवं यथासम्भव मौलिकता की अपूर्व प्रतिभा आक्रान्त करने वाला पाणिनि का यह गणपाठ, उसकी महती कृति अष्टाध्यायी मे एक और वैशिष्ट्य जोड़ देता है।

व्याकरण विषयक महत्त्व

अमुक शब्दों से ही अमुक कार्य होगा, अन्यों से नही, इस प्रकार की साहसपूर्ण घोषणा से अनुप्राणित, आचार्य पाणिनि के **सर्वादि** अथवा **प्रादि** जैसे पठित गण यदि इस महान् वैयाकरण का, संस्कृत वाङ्मय के सम्पूर्ण प्रदेशों से परिचय प्रस्तुत करते है, तो **स्वरादि, तारकादि** अथवा **ब्राह्मणादि** जैसे आकृति गण, जिनके द्वारा शब्दों की अनन्तानन्त परम्परा को सूत्रों मे बांधने का सफल प्रयास किया गया है, उसी आचार्य के भाषा वैज्ञानिक व्यापक दृष्टिकोण को उपस्थित करते हैं।

शब्दों के साधुत्व की दृष्टि से अष्टाध्यायी के सूत्रों का जो मूल है अथवा उन्हें जो प्रामाणिकता दी जाती है, ठीक वही मूल्य, तथा वही प्रामाणिकता पाणिनीय-व्याकरण के व्याख्याताओं ने अनेकत्र[1] गणपाठ को भी दी है। इस रूप में गणपाठ अष्टाध्यायी का परिशिष्ट होते हुए भी कही कहीं सूत्रस्थानीय होकर अपने गौरव को और भी बढ़ा लेता है।

साथ ही, कुछ सूत्रों में किसी या किन्ही विशिष्ट पद या पदों को स्थान देकर अपने विशेष अभिप्राय का ज्ञापन कराने वाली रहस्यमयी, पर साथ ही विशिष्ट प्रवृत्ति पाणिनि के गणपाठ में भी पायी जाती है। यथा—खण्डिकादि गण मे **क्षुद्रकमालव**[2] शब्द, गौरादिगण में **श्वन्**[3] शब्द, शरत्प्रभृति में

---

१. द्रष्टव्य–मृजंति भिदादिपाठाद‌ङ्। गणपाठादेव वृद्ध्यभावश्च। धा० वृ० पृ० २६१। चुरेति छत्रादि पाठात् अकारप्रत्ययो गुणाभावश्च। वही, पृ० ३७६। आरा धारा कारा भिदादित्वादङि निपातनाद् वृद्धिः। स्व० सि० च०, पृ० १४६। दासीदासम्-गवाश्वप्रभृतित्वात् एकवद्भाव एक-शेषाभावश्च। धा० वृ०, पृ० ३८७।

२. द्र०, महा०, ४। २। ४५॥

३. द्र०, वही, १। ४। २; ६। ४। २२॥

विपाट्[1] शब्द, युक्तारोह्यादिगण मे **एकशितिपात्**[2] शब्द, अश्वादिगण में **राजन्**[3] शब्द, कस्कादिगण में **भ्रातुष्पुत्र**[4] शब्द, सवनादिगण में '**अश्वसनि**'[5] शब्द तथा क्षुभ्नादिगण में '**नृनमन्**'[6] शब्द अथवा '**तृप्नु**' शब्द के पाठ से कात्यायन तथा पतंजलि ने आचार्य के विभिन्न उपादेय रहस्यों का उद्बोधन कराया है।

इसके साथ ही, गणपाठ का निर्धारण अथवा संकलन विशुद्ध संस्कृत-व्याकरण की दृष्टि से किया जाने पर भी, उसमे वैदिक तथा लौकिक संस्कृत साहित्य के विभिन्न विषयों तथा ग्रन्थों के नाम तथा तत्सम्बन्धी विविध सूचनायें, पाणिनि से प्राचीन विभिन्न वैयाकरणों के नाम तथा उनके मत, तत्कालीन प्रचलित गोत्र नामों का विशाल संग्रह, तत्कालीन जनपदों, संघों, नगरों तथा ग्रामों के नाम तथा प्रसिद्ध जंगलों, पहाड़ों तथा नदियों के नाम मिलने के कारण गणपाठ को, प्राचीन भारत के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी एक विशेष गौरव देना होगा। इस सम्बन्ध में कुछ सामान्य निर्देश यहाँ दिये जाते है।

प्राचीन वैयाकरणों के नाम

तौल्वल्यादि गण मे **पौष्करसादि** उपकादि मे **कशकृत्स्न**, अरीहणादि मे **काशकृत्स्न**, उत्सादि मे **माध्यन्दिन** के पिता **मध्यन्दिन** तथा क्रौड्यादिगण मे **आपिशलि** तथा **व्याडि** का नाम देखा जाता है। आचार्य आपिशलि की पाठशाला का निर्देश भी छत्र्यादिगण में उपलब्ध होता है।

तत्कालीन वैदिक तथा लौकिक साहित्य का परिचय

पाणिनीय गणपाठ के शौनकादि गण में **शौनक**, **आर्चाभ**, **कठ** आदि तथा कार्तकौजपादि गण में पठित लगभग ३० शब्दों द्वारा वैदिक शाखा

१. द्र०, महा० १।१।२२॥

२. द्र०, वही, २।१।१; पृ० ६१॥

३. द्र०, परि०, पृष्ठ १७६; प्रौढमनोरमा पूर्वार्ध॥

४. द्र०, महा०, ८।३।४१॥ ५. द्र०, वही, ८।३।१०१॥

६. द्र०, वही, नवा०, पृष्ठ १०८॥

ग्रन्थों का तथा विभिन्न चरणों का निर्देश मिलता है।[1] उक्थादि तथा क्रमादिगण मे आये **पद** तथा **क्रम** शब्द से क्रमशः वेदों के **पदपाठ** तथा **क्रमपाठ** अभिप्रेत हैं। ऋगयानादि गण मे **शिक्षा**, **निरुक्त**, **व्याकरण**, **छन्द**, **ज्योतिष**, **उपनिषद्**, **वास्तुविद्या**, **क्षत्रविद्या** तथा **अंगविद्या** जैसे विषयों तथा इनके व्याख्यानभूत ग्रन्थों का निर्देश पाया जाता है। ज्योतिष शास्त्र की दृष्टि से इसी गण में पठित **उत्पात संवत्सर मुहूर्त्त** तथा **निमित्त** शब्द और छन्दःशास्त्र की दृष्टि से **छन्दोभाषा** तथा **छन्दो विचिति** शब्द द्रष्टव्य हैं। व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से उक्थादि तथा कथादि गण में पठित **गण** शब्द से गणपाठ अभिप्रेत हैं। इन दोनों गणों में पठित क्रमशः **गुण** तथा **गण** शब्द के स्थान पर काशिका के 'गुणागुण' पाठ को शुद्ध मानकर डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'अगुण' शब्द से 'वृद्धि' का तात्पर्य निकाला है,[2] परन्तु वह सर्वथा निराधार एवं निष्प्रमाण होने के कारण अस्वीकार्य है।[3] उक्थादि तथा कथादिगणों मे **आयुर्वेद** तथा क्रमादि गण मे **मीमांसा** शब्द का भी पाठ मिलता है जिससे इन विषयों के तत्कालीन पठन पाठन में प्रचलित होने का बोध होता है।[4]

गोत्रनाम

पाणिनीय गणपाठ के यस्कादि, तिककितवादि, उपकादि, कुंजादि, नडादि, विदादि, गर्गादि तथा अश्वादि गणों में अनेक गोत्र-वाचक शब्दों का पाठ मिलता है। एक नाम वाले अनेक व्यक्तियों में से यदि किसी एक व्यक्ति के निर्देश करने का अवसर प्राप्त होता है तो उसका तन्नामा अन्य व्यक्ति से अन्तर करने के लिये गोत्र नामों से निर्देश किया जाता है। ऐसा निर्देश ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों तथा महाभारत आदि में अनेकत्र पाया जाता है। बौधायन, आश्वलायन तथा आपस्तम्ब श्रौतसूत्रों तथा कात्यायन,

---

१. विशेष विस्तार के लिये द्रष्टव्य—इण्डिया, एज नोन टु पाणिनि, पृष्ठ ३४८।

२—इण्डिया, एज नोन टु पाणिनि, पृष्ठ ३४८।

३—द्र० पूर्व पृष्ठ ३२—३३।

४. इस प्रकरण के विस्तार के लिये देखिए पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक कृत "आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय" पुस्तिका तथा सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १६६—१६३।

लौगाक्षि के प्रवराध्यायों तथा शुक्ल यजुर्वेद परिशिष्ट, मानव प्रवराध्याय तथा मत्स्यपुराण में इन गोत्रनामों की विस्तृत सूचियों का संकलन किया गया है। इनमें से अनेक प्रवराध्यायों के आधार पर अर्वाचीन काल में गोत्र प्रवरमंजरी नामक ग्रन्थ की रचना की गयी।

गणपाठ में पठित बहुत से गोत्रनाम इन प्रवराध्यायों में मौलिक रूप में तथा बहुत से नाम, उन उन गणों द्वारा विहित विभिन्न प्रत्ययों से युक्त होकर निष्पन्न रूप में मिलते हैं। बहुत थोड़े नाम ऐसे हैं, जो इन सूचियों मे उपलब्ध नहीं होते। पाणिनीय-गणपाठ के समान इन गोत्र-सूत्रियों मे भी अनेक पाठभेद पाये जाते हैं। परन्तु सब के तुलनात्मक अध्ययन से शुद्ध पाठ का ठीक ठीक अनुमान प्रायः सर्वत्र किया जा सकता है।

अपने गणपाठ मे गोत्र विषयक गणों का निर्धारण करके, अन्य महा-प्रवर काण्डों के समान, गोत्र नाम की अतिविस्तृत सूची उपस्थित करने वाले वैयाकरण पाणिनि के समक्ष कौनसी गोत्रसूचि विद्यमान थी, यह ठीक ठीक कह सकना तो कठिन है, पर इतना निश्चित है कि जो भी सूची थी, वह सम्प्रति उपलब्ध गोत्र विषयक उपरोक्त सूचियों से बहुत मिलती जुलती ही थी। इस धारणा की पुष्टि प्रो० जान ब्रफ[1] ने पाणिनि के **शरद्वच्छुनकदर्भाद् भृगुवत्साग्रायणेषु**[2] तथा **कपिबोधादांगिरसे**[3] जैसे सूत्रों तथा **आत्रेय भरद्वाजे**[4] एवं **भरद्वाज आत्रेये**[4] जैसे गणसूत्रों की विशिष्ट उपाधियों से युक्त उन उन प्रत्ययों से युक्त शब्दों को उपरोक्त सूचियों में लगभग उन्हीं उपाधियों तथा उन्हीं उन्हीं प्रत्ययों के साथ विद्यमान दिखलाकर की है।

ऐतिहासिक तथा भौगोलिक नाम

पाणिनीय गणपाठ के राजन्यादि, भौरिक्यादि तथा ऐषुकार्यादि गणों मे विभिन्न विषयों अर्थात् ग्रामों के समुदायों के नाम उल्लिखित हैं। दामन्यादि, पार्श्वादि तथा यौधेयादिगणों में तत्कालीन विभिन्न शास्त्रोपजीवी संघों के

---

१. द्र० जरनैल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, १६४६, पृष्ठ ४४, ४५। तथा—ए ट्रान्स्लेशन आफ गोत्र प्रवरमंजरी, भूमिका पृष्ठ ५१, तथा उससे आगे।

२. पा० ४।१।१०२। ३. पा० ४।१।१०७।

४. अश्वादिगण ४।१।११०।

नाम पाये जाते हैं। कच्छादि, भर्गादि, सिन्ध्वादि तथा तक्षशिलादि जैसे गणों में विभिन्न जनपद नामों का उल्लेख मिलता है। अरीहणादि आदि १७ तथा उत्करादि, नडादि, वारणादि, मध्वादि, संकलादि, सुवास्त्वादि, कत्र्यादि, काश्यादि, गहादि, धूमादि, नद्यादि तथा पलद्यादि गणों से तत्कालीन नगरों तथा ग्रामों की पर्याप्त विस्तृत सूची प्राप्त की जासकती है। इसी प्रकार कर्क्यादि तथा भालादि गणों में **प्रस्थान्त** तथा चिहणादिगण मे **कन्थान्त स्थाननामों** का दिग्दर्शन हो जाता है।

अजिरादि तथा शरादिगणों में तत्कालीन कुछ नदियों के नामों का उल्लेख है। इनमे से **अजिरवती** तथा **शरावती** से आज के ऐतिहासिक विद्वान् परिचित हो चुके हैं। किंशुलकादि तथा कोटरादि गणों में क्रमश: पर्वतों तथा अरण्यों के कुछ नामों का पाठ मिलता है।

इसके अतिरिक्त पाणिनिकालीन राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक स्थितियों के अध्ययन मे भी अष्टाध्यायी मे प्राप्त प्रचुर सामग्री के साथ साथ पाणिनीय गणपाठ से भी विद्वानों को पर्याप्त उपादेय सहायता प्राप्त होती रही है। इस प्रसंग में ख्यातिलब्ध डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की अनुपम पुस्तक 'पाणिनि कालीन भारत' का नाम लिया जासकता है, जिसमें मनस्वी सूक्ष्मदर्शी तथा सुविवेचक लेखक ने इन विभिन्न विषयों पर अद्भुत प्रकाश डाला है।

षष्ठ अध्याय
पाणिनीय गणपाठ के संशोधन की समस्या
तथा
उसका समाधान

पूर्व अध्यायों मे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि सम्प्रति पूर्णरूप मे जितने भी गणपाठ उपलब्ध हैं, उनमें आचार्य पाणिनि का ही गणपाठ प्राचीनतम है। न केवल इतना ही, अपितु पाणिनि के गणपाठ के आधार पर ही अर्वाचीन संस्कृत व्याकरणों के गणपाठों की भित्तियाँ खड़ी हो सकी हैं अथवा दूसरे शब्दों मे पाणिनीय गणपाठ ही कुछ परिवर्तन परिवर्धन तथा न्यूनाधिक्य के साथ संस्कृत व्याकरण के अन्य सम्प्रदायों ने अपनाया है। परन्तु इतना महत्त्वपूर्ण होते हुए भी यह गणपाठ सम्प्रति दुर्भाग्यवश पाठभेदों की प्रचुरता तथा विभिन्न अपभ्रष्टताओं से नितान्त दूषित रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है। इसका एक मात्र कारण है उसके साथ की गयी उपेक्षा।

इसलिये गणपाठ के संशोधन की समस्या भी एक बहुत महत्त्वपूर्ण समस्या है। गणपाठ के संशुद्ध न रहने पर पाणिनीयसंस्कृत-व्याकरण का एक बहुत बड़ा भाग, जो अष्टाध्यायी के सूत्रों में तो परोक्ष रूप में है, पर गणपाठ में जिसे प्रत्यक्ष देखा जासका है, अपरिष्कृत तथा दूषित ही रह जाता है।

पाणिनीय गणपाठ के साथ एक और भी समस्या सम्बद्ध है, और वह है, इसमें पठित अस्पष्टार्थक तथा प्रायः, आज के उपलब्ध वाङ्मय की दृष्टि से, अप्रयुक्त अनेक शब्दों के अर्थों का निश्चितीकरण तथा इसमें आये ऐतिहासिक भौगोलिक अथवा किसी अन्य प्रकार के नाम वाले शब्दों की ठीक ठीक पहचान।

परन्तु इस समस्या का समाधान बहुत अधिक समय तथा निरन्तर परिश्रम की अपेक्षा रखता है, इसलिये अभी मैं इस कार्य को करने का साहस नहीं कर रहा हूं, पर भविष्य में करने का विचार अवश्य है। साथ ही यह समस्या गणपाठ के केवल कुछ भाग के साथ सम्बद्ध है, जबकि संशोधन की समस्या पूरे गणपाठ से सम्बद्ध है इतना ही नहीं, शब्दों के संशुद्ध रूप मे उपस्थित हो जाने पर ही उपर्युक्त दूसरी समस्या के समाधान का अवसर

प्राप्त हो सकता है। यद्यपि अनेक अवसरों पर यह भी हो सकता है कि शब्दों के अर्थ तथा ऐतिहासिक स्थानों के ठीक ठीक पहचाने जाने पर ही शब्दों के ठीक ठीक **स्वरूप** का भी निश्चय किया जासके, तथापि इस स्थिति के सर्वथा अल्प होने के कारण प्रायिकता पहली वाली **स्थिति** को ही दी जा सकती है। इसलिये पहले गणपाठ के संशोधन की आवश्यकता है।

प्रक्षेपों तथा पाठ भेदों का प्राचुर्य

पाणिनीय-गणपाठ की कोई भी मुद्रित तथा लिखित पुस्तक सम्प्रति उपलब्ध नहीं है, जिस पर पूरा पूरा विश्वास किया जा सके तथा जिसके शब्दों की दूसरी पुस्तकों से तुलना करने पर पच्चीस प्रतिशत शब्दों के विभिन्न पाठभेद न मिल जाएं। इतना ही नही;—पाणिनीय गणपाठ का, व्याकरण के अन्य सम्प्रदायों मे मिलने वाले गणपाठों से तुलना करने पर पाठभेदों की जो भयंकर **स्थिति** सामने आती है, उसे देखकर तो पाणिनीय गणपाठ के अनेक शब्दों के **स्वरूप** के विषय मे ही चित्त शंकित हो उठता है। वैसे संस्कृत की प्रायः प्रत्येक प्राचीन पुस्तक मे पाठभेदों तथा प्रक्षेपों की **स्थिति** किसी न किसी **रूप** मे पाई जाती है, परन्तु गणपाठ मे मिलने वाले पाठभेदों की आश्चर्यजनक अधिकता, विषमता तथा भयंकरता अन्यत्र कहीं **भी** उपलब्ध नहीं होती।

काशिकाकार के **द्वारादिगण** के विषय मे, **स्वाध्याय इति केचित्पठन्ति**[1] इस कथन तथा पतंजलि के **स्वाध्याय शब्दो द्वारादिषु पठ्यते।……कः पुनरर्हति स्वाध्याय शब्दं द्वारादिषु पठितुम्**[2] इन कथनों को मिला कर विचार करने से इस बात की सम्भावना की जासकती है कि लगभग पतंजलि के समय में ही गणपाठ में प्रक्षेपों तथा पाठभेदों का प्रारम्भ हो चुका था। कात्यायन तथा पतंजलि द्वारा महाभाष्य में कहीं-कहीं गणपाठ के कुछ शब्दों की गम्भीर परीक्षा को देखते हुए उपर्युक्त सम्भावना और भी बढ़ जाती है। काशिकाकार के काल तक तो गणपाठ में प्रक्षेपों तथा पाठभेदों की संख्या ने एक विचारणीय समस्या का **रूप** धारण कर लिया जिसके उदाहरण के लिए काशिका में विद्यमान—**सर्वादिगण** में '**त्व**' तथा '**त्वत्**' का विवाद, **अनुशकादि** गण में '**अस्यहत्य**' तथा '**अस्यहेति**' का मतभेद, **न्यङ्क्वादि**

---

१. का० ७।३।४॥

२. महा० ७।३।४॥

गण में **त्वर्णपाक** इत्यादि शब्दों के **अकारान्त**, **आकारान्त**, तथा **उकारान्त**–तीन प्रकार के पाठ भेद, जो विभिन्न विद्वानों द्वारा स्वीकृत थे, की ओर आलोचक विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। इतना ही नहीं, काशिकाकार के अपने समय मे विद्यमान **गोपवनादि** गण के प्रमादपाठ का निर्देश स्वयं ग्रन्थकार ने बड़े स्पष्ट रूप मे किया है।[1] इसी प्रकार पूरे **सवनादि** गण का द्विविध पाठभेद भी काशिका में ही मिल जाता है, जो सम्भवतः दो प्रकार के विद्वानों द्वारा स्वीकृत रहा होगा।

इसके अतिरिक्त, चन्द्रगोमी के अनुकरण पर कात्यायान की वार्तिकों को, अष्टाध्यायी के सूत्रपाठ में मिलाने के प्रयत्नों के साथ साथ गणपाठ में भी मिश्रित करने की प्रवृत्ति काशिकाकार जैसे विद्वानों में स्पष्ट देखी जा सकती है।[2] इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप **पाककर्ण पर्ण**[3] इस पाणिनीय सूत्र पर संभवतः कात्यायन द्वारा रचित '**सम्मस्त्राजिनशणपिण्डेभ्यः फलात्**'[4] आदि तीन चार वार्तिकों को पाणिनि के अजादिगण में स्थान मिला। **योपधप्रतिषेधे हयगवयमुकयमत्स्यमनुष्याणां अप्रतिषेधः**[5] इस वार्तिक के अनुकरण पर गौरादि गण में **गवय**, **मुकय**, **मत्स्य** तथा **मनुष्य** शब्द दिखाई देने लगे।[6] **नृनराभ्यामञ्चवचनम्**[7] इस वार्तिक के आधार पर **शाङ्गरवादि**[8] गण में '**नृनरयोर्वृद्धिश्च**' गणसूत्र की रचना की गयी। **गहादिषु पृथिवीमध्यस्य मध्यमभावः**[9] तथा **चरणसम्बन्धेन निवास लक्षणोऽण्**[9] इन वार्तिकों की दृष्टि से गणपाठ के **गहादि** गण में **मध्योमध्यमं चाण् चरणे**[10] यह गणसूत्र प्रतष्ठित हुआ। **क्षुद्रकमालवात् सेनासंज्ञायाम्**[11] इस वार्तिक को देखकर

---

१. परिशिष्टानां हरितादीनां प्रमादपाठः। का० २। ४। ६७॥

२. द्र० क्वचिदेवं गणपाठः। का० ८। ३। ११०॥

३. पा० ४। १। ६४॥

४. द्र० महा० ४। १। ६४॥

५. महा० ४। १। ६३॥

६. द्र० गौरादिष्विदानीन्तनैः गवयादयः प्रक्षिप्ता इति वार्तिकारम्भाद् विज्ञायते। कैयट महा० ४। १। ६३॥

७. महा० ४। ४। ४६॥

८. द्र० नागेश=अनेनैवउभयोः नार्या सिद्धायां नृनरयोर्वृद्धिश्चेति गणसूत्रमनार्षम्।

९. महा० ४। २। १३८॥

१०. द्र० नागेश–अन्ये तु गणसूत्रमनार्षम्, पृथिवीमध्यशब्दस्यैव मध्यमादेश इत्याहुः। महा० ४। २। १३८॥

११. महा० ४। २। ४५॥

खण्डिकादि गण में क्षुद्रकमालव शब्दों के साथ **सेनासंज्ञायाम्** की उपाधि जोड़कर उसे गणसूत्र मान लिया गया।[1] **छ प्रकरणे विशिपूरिपदिरुहि प्रकृतेरनात् सपूर्वपदात्**[2] इस वार्तिक के आधार पर **अनुप्रवचनादि** गण में **संवेशन**, **प्रवेशन**, **अनुप्रवेशन**, **अनुवेशन** तथा **अन्वारोहण** जैसे शब्दों को सम्मिलित किया गया। इसी प्रकार **ग्रामाच्च**[3] इस उपसंख्यान को देखकर **कत्र्यादि** गण मे **ग्राम** शब्द को प्रतिष्ठित कर लिया गया। इस प्रकार के अन्य अनेक परिवर्धन तथा परिवर्तन हुए। न केवल इतना ही, अपितु पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकारण चन्द्रगोमिन् के अपने सूत्र **वेणुकादिभ्यश्छण्**[4] को पाणिनि के गणपाठ मे गणसूत्र के रूप मे स्थान दिये जाने के तथ्य का उद्घाटन विद्वानों ने किया है।[5]

काशिकाकार के बाद आने वाली, पाणिनीय व्याकरण के व्याख्याताओं तथा टीकाकारों की पीढ़ी ने भले ही आँखे मीच कर इन मिश्रणों को स्वीकार कर लिया हो, परन्तु जागरूक व्याख्याता नागेशभट्ट ने उपरोक्त अनेक स्थलों पर महाभाष्य मे, इन मिश्रणों की अप्रामाणिकता तथा अपाणिनीयता की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। पाणिनि से इतर व्याकरण सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापकों ने तो चन्द्रगोमी तथा के काशिकाकार की उपरिनिर्दिष्ट पद्धति को अधिकाधिक अपनाया है। इसी कारण पाल्यकीर्ति (शाकटायन), श्रीभोज, हेमचन्द्र और वर्धमान के गणपाठों मे उत्तरोत्तर अधिकाधिक वृद्धि होती गयी है। इस रूप मे पाणिनीय तथा अपाणिनीय सम्प्रदायों के गणपाठों का आपस मे इतना अधिक घोलमाल हुआ है कि पाणिनीयगणपाठ की कोई भी प्रामाणिक पुस्तक आज दृष्टिगोचर नही होती। इस घोलमाल का ही यह परिणाम है कि पतञ्जलि की इच्छा के विपरीत और काशिकाकार के स्पष्ट विरोध[6] होने पर भी पारायणिक विद्वानों द्वारा कस्कादि

---

१. नागेश–गणे क्षुद्रकमालव इत्येव पाठो वार्तिकबलात् इति साम्प्रदायिकाः। महा० ४। २। ४५॥

२. महा० ५। १। १११॥

३. महा० ४। २। ९५॥

४. चा० ३। २। ६१॥

५. द्र० सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ३८, पाद टिप्पण संख्या १।

६. द्र० सर्पिष्कुण्डिका, धनुष्कपालम्, बर्हिष्पूलम्, यजुष्पात्रमित्येतेषां पाठ उत्तर-

में पठित **सर्पिष्कुण्डिका** आदि चार शब्द आज तक भी गणपाठ की पुस्तकों तथा हस्तलेखों में स्थान पाते आरहे हैं।

गणपाठ की दुरवस्था का कारण ?

पाणिनीय गणपाठ में इस प्रकार के भयंकर पाठभेदों तथा प्रक्षेपों से उत्पन्न दुरवस्था का कारण सम्भवतः यह जान पड़ता है कि प्रत्येक गण मे कितने शब्द गणकार को अभिप्रेत थे, इसके परिज्ञान के लिये उसने कोई स्पष्ट निर्देश नहीं किया। जैसा कि पूर्व बताया गया है पठित गणों में समाप्तिवाचक पारिभाषिक 'वृत्' शब्द के संयोजन की प्रक्रिया गणकार द्वारा अपनायी गयी परन्तु यह **वृत्करण** भी उन गणों की सुरक्षा करने मे सर्वथा असमर्थ रहा, क्योंकि उत्तरकाल मे वृत्करण के प्राय. उत्सन्न हो जाने से उत्तरवर्ती विद्वानों के पास यह जानने का कोई साधन नहीं रहा कि गणकार ने किस शब्द के पश्चात् **वृत्** शब्द को रख कर उस पठित गण का द्वार बन्द किया था। इतना ही नहो मिलाने वाले यथेष्ट शब्दों को मिलाकर भी अन्तिम शब्द के बाद '**वृत्**' को स्थान दे सकते थे। सम्भवतः यही कारण है कि वृत्करण की प्रक्रिया पठितगणों मे भी सर्वत्र नही पायी जाती।

इसके अतिरिक्त एक बहुत स्पष्ट तथा प्रमुख कारण यह जान पड़ता है कि गणपाठ के प्रति पाणिनीय सम्प्रदाय के अध्यापकों, व्याख्याताओं तथा टीकाकारों का, सम्भवतः सदा से ही पर्याप्त उपेक्षित दृष्टिकोण रहा है। हरदत्त के लेख से यह पता लगता है कि काशिका से प्राचीन वृत्तियों मे गणपाठ को स्थान नहीं दिया जाता था।[1] कुछ विद्वानों ने इधर थोड़ा बहुत ध्यान देकर गणपाठ की वृत्ति अथवा व्याख्या की रचना की भी तो, विद्वानों की दृष्टि से उपेक्षित रहने के कारण आज उनका अस्तित्व भी इतस्ततः प्राप्त दो एक उद्धरणों के रूप में उपलब्ध हो पाता है। इस विषय मे यथा स्थान पर्याप्त सूचनायें दी जा चुकी हैं।

पदस्थस्यापि षत्वं यथा स्यादिति, परमसर्पिः फलमित्येवमादिप्रत्युदाहरणादि पारायणिका आहुः। भाष्ये वृत्तौ च नित्यंसमासेऽनुत्तरपदस्थस्येत्यत्र परमसर्पि कुण्डिकेत्येतदेव प्रत्युदाहरणम्। का० (८।३।४८)

१. वृत्त्यन्तरेषु तु गणपाठ एव नास्ति। प० मं० भा० १, पृ० ४।

इन विशिष्ट कारणों के अतिरिक्त कुछ सामान्य कारण भी उपस्थित किये जा सकते हैं जो प्रायः सभी संस्कृत वाङ्मय की प्राचीन पुस्तको में मिलने वाले पाठभेदों के कारण के रूप में अनुमानित होते हैं। इन मे दो कारण ऐसे हैं जो बहुत ही स्वाभाविक जान पड़ते हैं। एक तो यह कि समय-क्रम से लिपियों में पर्याप्त परिवर्तन होते रहे, इस से प्राचीन काल मे लिखी गई पुस्तकों की प्रतिलिपि करते समय उत्तरकालीन लेखकों के द्वारा ठीक ठीक न पढ़ा जा सकने पर वे लोग अपने अनुमान तथा कल्पना द्वारा अपठित अंश की पूर्ति कर लेते थे। इस रूप में विभिन्न लेखकों द्वारा विभिन्न पाठ स्वीकार कर लिये जाने के कारण अनेक पाठभेदों का उत्पन्न हो जाना अत्यन्त स्वाभाविक है।

दूसरा इसी से मिलता जुलता कारण भाषा के उच्चारण की विभिन्नता है। **ष** को **ख य** को **ज**, **व** को **ब**, **ष** को **श** तथा **स** के रूप मे, अथवा इस से विपरीत दूसरे के स्थान में दूसरे का उच्चारण आदि, उदाहरण रूप में उपस्थित किये जा सकते हैं। इस उच्चारण दोष के कारण जिस रूप में उच्चारण होने लगा, उसी रूप में वह लिखा भी जाने लगा। इस कारण भी शब्दों के पाठभेदों की वृद्धि न केवल स्वाभाविक अपितु अनिवार्य है।

इन सामान्य और विशेष कारणों का मिला जुला परिणाम, जो कि अत्यन्त स्वाभाविक था, आज गणपाठ की उपरोक्त दुरवस्था के रूप में विद्यमान है। कही कहीं स्थिति यहां तक पहुँच गयी है कि अनेक पाठभेदों के मध्य शुद्ध पाठ का निर्धारण कर सकना कठिन ही नहीं अपितु, किसी ठोस आधार के अभाव में, सर्वथा असंभव प्रतीत होता है।

गणपाठ के संशोधन में पाणिनि कात्यायन तथा पतंजलि की सहायता

यों तो पाणिनीय-गणपाठ के संशोधन के प्रसंग में ऐसी कोई कसौटी नहीं उपस्थित की जा सकती, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि गणपाठ में इतने ही शब्द पाणिनीय हैं इतने नहीं। फिर भी गण के प्रथम शब्दों तथा कुछ ऐसे शब्दों को, जिनका निर्देश स्वयं पाणिनि ने अपने सूत्रों में किया है, को सर्वथा पाणिनि प्रोक्त ही मानना होगा। जैसे सर्वादिगण

के **डतर** आदि पांच शब्द[1] **पूर्व** आदि नव[2] शब्द तथा कोटरादिगण।[3]

इसी प्रकार गणपाठ के जिन जिन शब्दों के उन गणों में रखे जाने के प्रयोजन आदि पर कात्यायन ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं, उन्हें भी विशुद्ध रूप से पाणिनीय ही मानना होगा। यथा—सर्वादिगण में **उभ**[4] तथा **भवत्**[5] शब्द, भिक्षादिगण में **युवति**[6] शब्द कच्छादिगण में **साल्व**[7] शब्द, बिल्वादिगण में **गवीधुका**[8] शब्द तथा युक्तारोह्यादिगण में **एकशितिपात्**[9] शब्द। इसी तरह गणपाठ के जिन जिन शब्दों के साथ कात्यायन ने किसी विशिष्ट उपाधि का संयोजन करना चाहा है उन्हें भी पाणिनीय ही मानना होगा। यथा—तिष्ठद्गवादिगण के **तिष्ठद्गु**[10] अथवा **खलेयवादि**[11] शब्द, अजादिगण का **शूद्रा**[12] शब्द अथवा कुर्वादिगण का **वामरथ**[13] शब्द।

कात्यायन के समान पतंजलि ने भी गणपाठ के कुछ शब्दों को आचार्य पाणिनि की विभिन्न प्रवृत्तियों का ज्ञापक बताया है।[14] यथा—

१. द्र० अद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः। पा० ७।१।२५॥

२. द्र० पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा। पा० ७।१।१६॥

३. द्र० वनं पुरगामिश्रकासिध्रकाशारिकाकोटराग्रेभ्यः। पा० ८।४।४॥

४. उभस्य सर्वनामत्वेऽकजर्थं। नवा० पृष्ठ ३०१।

५. भवतो अकच्छेषत्वानि। वही. पृष्ठ ३०१।

६. भिक्षादिषु युवतिग्रहणानर्थक्यं पुंवद्भावस्य सिद्धत्वात् प्रत्ययविधौ। महा० ४।२।३८॥

७. साल्वानां कच्छादिषु पाठो अण् विधानार्थः। महा० ४।२।१३३॥

८. बिल्वादिषु गवीधुकाग्रहणं मयट् प्रतिषेधार्थम्। महा० ४।३।१३४॥

९. एकशितिपात् स्वरवचनं तु ज्ञापकं निमित्तस्वरबलीयस्त्वस्य। महा० २।१।१ पृ० ६१॥

१०. तिष्ठद्गुः कालविशेषे। महा० २।१।१७॥

११. खलेयवादीनि प्रथमान्तानि अन्य पदार्थे। महा० २।१।१७॥

१२. शूद्रा चामहत्पूर्वा। महा० ४।१।४।

१३. वामरथस्य कण्वादिवत् स्वरवर्जम्। महा० ४।१।१५१।

१४. द्र० पूर्व पृष्ठ २४६।

गौरादि में **श्वन्** शब्द, शरत्प्रभृति में **विराट्** शब्द, अश्वादि मे **राजन्** शब्द सवनादि में **अश्वसनि** शब्द तथा क्षुभ्नादि में 'नृनमन्' और **तृप्नु** शब्द इन शब्दों को भी पतंजलि के प्रामाणिक वचनों के आधार पर पाणिनीय ही मानना होगा।

इस के साथ ही हम यह भी कहना चाहेंगे कि कात्यायन की विभिन्न वार्तिकों का अनुकरण करते हुए चन्द्रगोमी तथा काशिकाकार इत्यादि ने जिन शब्दों या गणसूत्रों को पाणिनीय गणपाठ मे मिला दिया है, तथा जिन्हें गणपाठ मे प्रतिष्ठित मानते हुए तत्सम्बद्ध वार्तिकें सर्वथा निष्प्रयोजन हो जाती हैं, जिनका यथावसर ऊपर निर्देश किया जा चुका है, उन्हें कात्यायन की प्रतिष्ठित प्रामाणिकता के आधार पर निश्चित रूप मे अपाणिनीय मानना होगा।

इसी प्रकार उन शब्दों को जिन्हें किसी प्रसंग मे पतंजलि ने तत्सम्बद्ध गणों मे पढ़ने मे निषेध किया है उन्हें पाणिनीय नही माना जा सकता। यथा—द्वारादिगण का **स्वाध्याय** शब्द।[1]

परन्तु पाणिनि, कात्यायन तथा पतंजलि द्वारा उभय प्रकार के निदिष्ट शब्दों की संख्या अंगुलियों पर गिनने लायक होने के कारण गणपाठ के अन्य अनिर्दिष्ट शब्दों के महान् समूह के संशोधन की समस्या ज्यों की त्यों बनी रहती है।

गणपाठ के संशोधन में काशिका का स्थान

इसमें कोई सन्देह नही कि काशिकाकार द्वारा, अपने गणपाठ के विषय मे, की गई **शुद्धगणा** की घोषणा बहुत कुछ सत्य है, क्योंकि काशिका में विद्यमान गणपाठ की अन्य पाणिनीय एवं अपाणिनीय गणपाठों के साथ पारस्परिक तुलना करने पर काशिका में मिलने वाले शब्द ही प्रायः अधिक शुद्ध निकलते हैं। परन्तु केवल काशिका के गणपाठ को ही एकमात्र प्रामाणिक मान कर उसके आधार पर पाणिनीयता और अपाणिनीयता का निर्णय कर देना उचित नहीं कहा जायगा। क्योंकि एक तो काशिकाकार की गणपाठ विषयक नीति, जिसका ऊपर निर्देश किया जा चुका है,[2] कुछ ऐसी घोलमाल या सम्मिश्रण की रही है, जिसे गणपाठ की पाणिनीयता की

---

१. द्र० पूर्व पृष्ठ ६६। २. पूर्व पृष्ठ ६६, १००।

सुरक्षा की दृष्टि से कथमपि उपादेय नहीं माना जा सकता। दूसरे आज से शताब्दियों पूर्व विरचित काशिकावृत्ति तथा उसमें पाया जाने वाला गणपाठ किस रूप में उपलब्ध है, लेखकों या लिपिकारों के प्रमादजन्य दोषों से उसके स्वरूप में कितना परिवर्तन हो गया है, इन सब बातों पर भी तो ध्यान देना ही होगा।

काशिका के हस्तलेख तथा प्रकाशित संस्करण की पारस्परिक तुलना करने पर अनेक विषम स्थल सामने आते हैं। गणपाठ के अनेक स्थलों पर बहुत से ऐसे शब्द मिल जाते हैं जिनका प्रकाशित संस्करण मे अभाव पाया जाता है। जैसे—संख्यादिगण मे **सुरस** शब्द अथवा प्रेक्षादिगण में **संकटसुक** आदि। इस के विपरीत कुछ ऐसे भी स्थल उपस्थित किये जा सकते है जो काशिका के प्रकाशित संस्करण के उन उन गणों मे तो मिल जाते हैं पर हस्तलेख में नही मिलते। जैसे—अश्वादिगण मे **प्राच्य, कित, काण, चुम्प, श्रविष्ठा** इत्यादि शब्द। इसके अतिरिक्त एक बात और ध्यान देने योग्य है कि काशिका के व्याख्याकार जिनेन्द्रबुद्धि ने अपनी काशिकाविवरण-पंजिका मे, कुछ स्थलों पर गणपाठ के कुछ शब्दों को प्रमादजन्य दोष के कारण स्थान प्राप्त हुआ है, ऐसा माना है।[1]

इसलिये ऐसे स्थलों का अस्तित्व एवं काशिकाकार की सूत्रपाठ तथा गणपाठ दोनों मे, चन्द्रगोमी के अनुकरण पर, कात्यायन के वार्तिकों के सम्मिश्रण की नीति काशिका के गणपाठ की पाणिनीयताविषयक प्रामाणिकता को पूर्ण सन्दिग्ध बना देते हैं।

प्रक्रियाकौमुदी में प्राप्त गणपाठ का उपयोग

काशिकावृत्ति मे दृष्टिगोचर होने वाले गणपाठ के पश्चात् पाणिनीय गणपाठ का दर्शन इसा की १५वी शताब्दी[2] के विद्यमान रामचन्द्र की रचना प्रक्रियाकौमुदी मे होता है। यद्यपि रामचन्द्र ने पाणिनीयगणपाठ के सभी गणो का पाठ नहीं किया है, तथापि उसके पौत्र विट्ठलकृत टीका में प्राय. सारे गण मिल जाते हैं। यहां मिलने वाला गणपाठ काशिकास्थित गणपाठ का अनुकरण-मात्र है। कहीं कही कुछ विभिन्नतायें तथा पाठभेद अवश्य प्राप्त हो जाते

१. द्र० न्यास, २। २। ३१ पृ० ३६६।

२. द्र० सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ४५।

हैं। अतः गणपाठ के संशोधन मे इस पुस्तक से भी थोड़ी बहुत सहायता मिल सकती है। परन्तु इसे काशिका की अपेक्षा अधिक प्रामणिकता देना अनुचित होगा।

गणरत्नावली का उपयोग

यज्ञेश्वर भट्ट ने पाणिनीय गणपाठ का, वर्धमान की गणरत्नमहोदधि की पद्धति के अनुकरण पर, श्लोकबद्ध संग्रह करके उस पर अपनी अति संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत की है। पाणिनीय गणपाठ की यही एक व्याख्या है जो आज भी किसी प्रकार उपलब्ध है। परन्तु इसकी रचना का समय शक संवत् १७९६ है।[1] इस कारण समय की दृष्टि से यह विशेष प्राचीन नहीं है।

यज्ञेश्वर भट्ट ने गणरत्नावली मे अनेक स्थलों पर पाणिनि के उन उन गणों मे वर्धमान के द्वारा गणरत्नमहोदधि मे बढ़ाये गये शब्दों की निष्प्रयो-जनता का प्रतिपादन करने का प्रयास किया है। यथा—सर्वादिगण[1] मे **अन्योन्य**, **परस्पर** तथा **इतरेतर** शब्दों के विषय मे अथवा स्थूलादि गण[2] मे संमिश्रित अनेक शब्दों की अनावश्यक स्थिति के विषय मे यज्ञेश्वर भट्ट का कथन द्रष्टव्य है। इसलिये इस दृष्टि से इस वृत्ति की सहायता अपेक्षित है, पर बहुत अधिक मात्रा में इस वृत्ति से सहायता की आशा करना दुराशा मात्र होगी, क्योंकि काशिका के गणपाठ तथा गणरत्नावली के गणपाठ की पारस्परिक तुलना करने पर कुछ पाठभेद अवश्य प्राप्त होते है, पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इसमे प्रायः काशिका का ही अनुकरण किया गया है। विशेषतः उन स्थलों पर जहाँ काशिकाकार ने उपरिनिर्दिष्ट नीति के अनुसार पाणिनीय गणपाठ मे कात्यायन की वार्तिकों के आधार पर शब्दों तथा विविध गणसूत्रों का समावेश किया है। इसके अतिरिक्त कहीं कहीं वर्धमान की अनुकृति की भी स्पष्ट छाप गणरत्नावली पर विद्यमान है। इसलिये गणपाठ के संशोधन में इस पुस्तक का उपयोग तो किया जा सकता है, पर इस पर ही आधत नहीं रहा जा सकता।

---

१. द्र०—शाके रसांकमुनिभूमिते ऽब्दे। ग० र०। पत्रां० १२३।

१. द्र० ग० र० पत्रा ७। २. द्र० वही, पत्रा १११।

गणपाठ के विविध हस्तलेख

पाणिनीय गणपाठ के विविध हस्तलेख, जो हमें मिल सके हैं, पर्याप्त आधुनिक हैं। तथा–

यादृशं पुस्तकं दृष्टं तादृशं लिख्यते मया।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न विद्यते ॥'

और **मक्षिकास्थाने मक्षिकापातः** की नीति पर चलने वाले, संस्कृत भाषा से भी संभवतः अनभिज्ञ लिपिकारों द्वारा लिखित होने के कारण बहुत अधिक अशुद्ध हैं। पाणिनीय तथा अपाणिनीय सम्प्रदाय मे मिलने वाले गणपाठ के अन्य स्रोतों से इन हस्तलेखों की तुलना करने पर यह भी पता लगा है कि कहीं कहीं इनमे भी पाठभेदों को स्वतंत्र शब्द मान कर गण में उनका पाठ करने की जैनेन्द्र भोज तथा हेमचन्द्र के व्याकरण मे पाई जाने वाली प्रवृत्ति विद्यमान है। इसी कारण पक्षादि गण मे **तुष** तथा **तुक्ष** इन दोनों शब्दों का पाठ किया गया है, जब कि **तुक्ष** वामन-स्वीकृत पाठ है तथा **तुष** वर्धमान आदि का। इसी गण का दूसरा शब्द **कम्बलिक** है, जिसके **स्थान** पर पाल्यकीर्ति का **पीलिक** तथा हेमचन्द्र के गणपाठ मे **बलिक** पाठ है। हस्तलेख संख्या २, ३, ४ में **कम्बलिक** तथा **बलिक** दोनों शब्दों का पाठ मिलता है। इसी तरह कुमुदादि गण के **मुचकर्ण** के **स्थान** पर जैनेन्द्र तथा हैमव्याकरण के गणपाठ मे **शुचिकर्ण** पाठ मिलता है, पर ये दोनों ही शब्द हस्तलेख संख्या दो यथा तीन में उपर्युक्त गण मे पठित है

इसके अतिरिक्त इन हस्तलेखों में कुछ ऐसे भी शब्द मिल जाते है, जिन्हें किसी विशिष्ट वैयाकरण के मत के रूप मे वर्धमान ने अपनी गणरत्नमहोदधि मे प्रस्तुत किया है। यथा—काश्यादि गण मे **अमित्र** शब्द के पाठ को वर्धमान केवल भोज सम्मत पाठ मानता है, परन्तु गणपाठ के विभिन्न हस्तलेखों में यह शब्द पठित है।

गणपाठ का हस्तलेख संख्या तीन यद्यपि पर्याप्त स्पष्ट तथा शुद्ध है, परन्तु स्थल स्थल पर इसमे वर्धमान के गणरत्नमहोदधि का अनुकरण किया गया है। इसके बीच में चान्द्र, शाकटायन (जैन) के पाठभेद भी दिये गये है तथा कहीं कहीं शब्दों की वृद्धि भी उन उन गणों मे की गई है। पाठभेदों को स्वतंत्र शब्द मान लेने की प्रवृत्ति तो इस हस्तलेख में पर्याप्त मात्रा में मिलती है।

अतः हस्तलेखों की सहायता भी थोड़ी बहुत तभी उपादेय हो सकती है, यदि इन के प्रति पूरा पूरा जागरूक रहा जाए ।

अपाणिनीय सम्प्रदायों के विभिन्न गणपाठों का उपयोग

अपाणिनीय सम्प्रदायों के गणपाठों मे, जिनके स्वरूप इत्यादि के विषय में ऊपर विस्तार से विचार किया जा चुका है, मुख्यतः चन्द्रगोमी, जैनेन्द्र, पाल्यकीर्ति, भोज, हेमचन्द्र तथा वर्धमान के गणपाठों से काशिका में मिलने वाले गणपाठ की तुलना करते हुए, स्वरविषयक गणों के अतिरिक्त गणों के संशोधन मे, बहुत कुछ सहायता प्राप्त की जा सकती है। क्योंकि, इन वैयाकरणों ने सामान्य परिवर्तन तथा परिवर्धन, एवं थोड़े बहुत पाठभेदों के साथ, पाणिनीय गणपाठ पर ही अपने अपने साम्प्रदायिक नामपट्ट लगा कर, अपने अपने व्याकरणों मे प्रतिष्ठापित कर लिया है। यद्यपि जैनेन्द्र तथा शाकटायन के गणपाठों मे अपभ्रष्टता अधिक मात्रा मे पाई जाती है, जिसके कारण कहीं कहीं शब्दों का स्वरूप ही बदल गया है, फिर भी भोज, हेमचन्द्र तथा वर्धमान के साथ तुलना करने पर शब्दों के शुद्ध स्वरूप का थोड़ा बहुत पता लगाया जा सकता है। भोज का गणपाठ, सूत्रों मे ही प्रतिष्ठित होने के कारण औरों की अपेक्षा, कहीं अधिक, शुद्ध और अपने रूप मे प्रामाणिक है।

वर्धमान की गणरत्नमहोददि का व्याख्येय गणपाठ भी अपने अज्ञात नामा व्याकरण सम्प्रदाय की दृष्टि से, पर्याप्त शुद्ध जान पड़ता है क्योंकि इसमे साथ ही साथ वृत्ति अथवा व्याख्या होने के कारण शब्दों की स्वस्थता अधिक स्वाभाविक है। विशेष कर एगलिंग महोदय द्वारा सम्पादित गणरत्न-महोदधि अत्यधिक उपादेय है।

हेमचन्द्र तथा वर्धमान के गणपाठों से तथा विशेषतः वर्धमान की गण-रत्नमहोदधि से हमे विभिन्न आचार्यों तथा टीकाकारों के विभिन्न मतों तथा पाठभेदों को जानने में पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

ओटो बोथलिंक सम्पादित गणपाठ

ओटो बोथलिंक महोदय ने सन् १८४० मे अष्टाध्यायी के सूत्रों की जर्मन-व्याख्या के प्रसंग मे पाणिनीय गणपाठ को यथासंभव शुद्ध रूप मे रखने का स्तुत्य प्रयास किया है। परन्तु, जैसा कि गणपाठ के अन्य स्रोतों से उसकी तुलना करने पर पता लगता है, इनका संशोधन अधिकतर यज्ञेश्वर भट्ट की

गणरत्नावली तथा हमारे गणपाठ के हस्तलेख (नं० ३ के साथ मिलते जुलते पाठ वाले अन्य हस्तलेख) को ही संभवतः एकमात्र आधार मानकर सम्पन्न हो सका है। इसलिये गणरत्नावली तथा हस्तलेखों की स्थिति के, जैसा कि ऊपर दिखाया गया है, बहुत अधिक विश्वसनीय न होने के कारण ओटो बोथलिंक का यह गणपाठ भी अत्यधिक प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

गणपाठ के संशोधन का संभव प्रकार

पाणिनि, कात्यायन तथा पतंजलि के प्रामाणिक वचनों द्वारा निर्दिष्ट गणपाठ के शब्दों से अतिरिक्त शब्दों की पाणिनीयता के प्रतिपादन की अथवा दूसरे शब्दों मे पाणिनीय गणपाठ मे स्थान देने की, किसी भी प्रामाणिक कसौटी के अनुपलब्ध होने के कारण कुछ संभव उपायों का निर्धारण करना अत्यावश्यक है। इस दृष्टि से निम्न उपाय प्रस्तुत किये जा रहे है।

१—काशिका, काशिका के हस्तलेख, प्रक्रियाकौमुदी, गणरत्नावली, पाणिनि गणपाठ के हस्तलेख तथा ओटो बोथलिक द्वारा संशोधित गणपाठ इत्यादि, पाणिनीय सम्प्रदाय से सम्बद्ध सभी स्रोतों मे प्राप्त होने वाले गणपाठ के शब्दों का एक ओर तो परस्पर तथा दूसरी ओर पाणिनि से इतर–चन्द्रगोमी, जैनेन्द्र, जैनशाकटायन, भोज, हेमचन्द्र तथा वर्धमान इन विभिन्न–सम्प्रदायों के गणपाठों के शब्दों के साथ तुलना करने पर जो शब्द एक साथ सभी स्रोतों मे मिल गए है, उन्हें पाणिनीय गणपाठ के मूलभाग में स्थान दिया जा सकता है।

२—जो शब्द पाणिनीय सम्प्रदाय के सभी ग्रन्थों मे न मिल कर केवल एक दो में मिलते है, परन्तु बाद के चान्द्र इत्यादि के गणपाठों में मिलते हैं, उन्हें भी मूलभाग में स्थान दिया जा सकता है।

३—जो शब्द केवल पाणिनीय गणपाठ के हस्तलेखों तथा काशिका अथवा काशिका के हस्तलेखों मे प्राप्त होते हैं उन्हें भी प्रधानता देते हुए, अन्यत्र सर्वत्र अप्राप्त होते हुए भी मूलभाग मे स्थान दिया जाना चाहिए।

४—इसके अतिरिक्त पाणिनीय सम्प्रदाय की, गणपाठ के शब्दों से थोड़ा सा भी सम्बन्ध रखने वाली उपलब्ध सभी पुस्तकों में उन उन शब्दों के विषय में मिलने वाली विकीर्ण सम्पूर्ण सामग्री के विवेचनात्मक आधार पर ठीक

जँचने वाले शब्दों को भी मूलभाग में प्रतिष्ठित किया जा सकता है। भले ही वे शब्द पाणिनीय सम्प्रदाय के सभी ग्रन्थों मे न मिलते हों।

५—इसी तरह लौकिक तथा वैदिक कोषों और संस्कृत वाङ्मय के प्रसिद्ध ग्रन्थों के अवलोकन से जिन शब्दों के उन उन गणों मे रहने से निष्पन्न होने वाले प्रयोगों की साधुता प्रमाणित होती है, उन्हें पाणिनीय गणपाठ विषयक किसी एक भी ग्रन्थ में पाठ मिल जाने पर स्थान दिया जाना चाहिए।

६—आकृतिगणों के विषय मे यद्यपि विशेष विवेचन की आवश्यकता तो नही प्रतीत होती, पुनरपि यह उचित प्रतीत होता है कि उन शब्दों को भी मूल भाग मे स्थान दिया जाए, जिन्हें, उन उन गणों मे पढ़े जाने के लिये, **बाधकबाधनार्थ** (बाधक रूप में प्राप्त होने वाले प्रत्यय को बाँधने के लिये) जैसे, विशिष्ट प्रयोजन काशिकाकार आदि ने उपस्थित किये हैं। इसके साथ ही काशिका, अथवा काशिका के हस्तलेख तथा गणपाठ के हस्तलेखों मे मिलने वाले प्रायः सभी शब्दों को, थोड़ी बहुत विवेचना के आधार पर, यदि उनकी स्थिति आवश्यक प्रतीत हो, तो मूल भाग में स्थान मिलना ही चाहिये। क्योंकि यह कह सकना तो सर्वथा असंभव है कि आचार्य पाणिनि ने कितने शब्द आकृतिगणों मे पढ़े थे। हम पूर्व आकृतिगणों के प्रसंग में प्रतिपादन कर चुके हैं कि "आकृतिगणों मे भले ही कुछ शब्द उपलक्षणार्थ रख दिये हों, पर आजकल मिलने वाले सारे शब्दों का पाठ तो पाणिनि ने नहीं ही किया था।" उपलक्षणार्थ भी कितने शब्दों का पाठ पाणिनि ने किया था, यह भी आज ठीक ठीक जानना सर्वथा असंभव ही है। साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि आकृतिगणों में काशिकाकार आदि द्वारा पठित शब्दों की लम्बी सूची वहाँ असंगत या असाधु है। इसलिये पाणिनीय सम्प्रदाय से सम्बद्ध होने के कारण उपरोक्त स्रोतों में पाये जाने वाले आकृतिगण विषयक शब्दों को, पाणिनि द्वारा उनके पठित होने की स्थिति को अस्वीकार करते हुए भी, उन उन आकृतिगणों मे स्थान देना आवश्यक तो नही, पर उपादेय अवश्य है।

७—पूर्व गणसूत्रों की समस्या पर विचार करते हुए विस्तार से हमने यह सिद्ध किया है कि गणसूत्रों के रचयिता आचार्य पाणिनि नहीं हैं। कहीं कहीं अनावश्यक, असंगत तथा पुनरुक्ति दोष से ये गणसूत्र पूर्णतया दूषित हैं तथा कहीं कहीं कात्यायन की विभिन्न वार्तिकों के आधार पर इनकी रचना

साकार हो सकी है। जो भी हो, हमें ये गणसूत्र, कथमपि, पाणिनि विरचित नहीं प्रतीत होते। तथा इसी प्रकार कात्ययान के वार्तिकों के आधार पर, चन्द्रगोमी का अनुकरण करते हुए प्रमुख एवं प्राचीन वृत्तिकार जयादित्य तथा वामन ने अपनी काशिकावृत्ति में अनेक गणों मे अनेक शब्दों को समाविष्ट कर दिया है। इनकी चर्चा पूर्व की जा चुकी है। कात्यायन की वार्तिकों के होते हुए इस प्रकार के शब्द उन उन गणों मे अनावश्यक प्रतीत होते है अथवा उनके उन उन गणों मे रहते हुए, उसी दृष्टि से रची गई कात्यायन की वे वार्तिकें अनावश्यक प्रतीत होती है। इसलिये कात्यायन को अधिक प्रामाणिकता देते हुए, हम इस प्रकार के शब्दों का उन उन गणों मे पाठ अपाणिनीय समझते हैं।

पर इन दोनों प्रकार के गणसूत्रों तथा इस प्रकार के शब्दों को पाणिनीय गणपाठ के मूलभाग से हटा देना भी हम इसलिये ठीक नही समझते कि उपर्युक्त दोनों ही धारणायें अभी पूर्णत. निश्चय का रूप नही प्राप्त कर सकी हैं।

यह तो हुई पूरे पाणिनीय गणपाठ को ध्यान मे रख कर उसके संशोधन की सामान्य स्थिति। इसके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट गणों के संशोधन या परीक्षण के लिये कुछ वि ोष आधार अपनाये जा सकते है।

१–पाणिनीय गणपाठ के **स्वरादि, चादि उर्यादि** तथा **साक्षात्प्रभृति** गणों मे पठित शब्दों की परीक्षा के लिये अमरसिंह आदि के कोषों के अव्यय प्रकरण से यथा सम्भव सहायता ली जा सकती है।

२–**अर्धर्चादि** गण मे पढ़े गये शब्दों की विस्तृत समीक्षा के लिये इन शब्दों की तुलना पाणिनि के नाम से प्रसिद्ध लिंगानुशासन के पुन्नपुंसक प्रकरण के शब्दों, तथा जिन शब्दों के पुन्नपुंसकत्व की स्वीकृति पुन्नपुंसक प्रकरण के अतिरिक्त सूत्रों में विद्यमान हैं, उन शब्दों के साथ की जा सकती है। काशिका आदि में कुछ ऐसे भी शब्द अवश्य मिल सकते हैं जो लिंगानुशासन के इन प्रकरणों में ्भवतः न मिल सकें। परन्तु अन्य स्रोतों के आधार पर उन्हें पाणिनीय गणपाठ में स्थान दिया जा सकता है।

३-**पैलादि, यस्कादि, तिककितवादि, उपकादि, कुञ्जादि, गर्गादि, नडादि,** तथा **विदादि** गणों की, जिनमें गोत्रवाची शब्दों का पाठ मिलता है, तथा उन अन्य गोत्रवाचक शब्दों की जो इतस्ततः अन्य किसी गण में

अलग अलग पढ़े गये हैं, परीक्षा या संशोधन के लिये प्रो० जान ब्रफ द्वारा अनूदित गोत्र प्रवरमंजरी में मिलने वाले बौधायन, आपस्तम्ब, आश्वलायन श्रौतसूत्रों तथा कात्यायन, लौगाक्षि, शुक्लयजुर्वेद परिशिष्ट, मानव प्रवराध्याय तथा मत्स्य पुराण के गोत्र विषयक सूचियों मे विद्यमान शब्दों के साथ शब्दशः तुलना की जा सकती है। कुछ थोड़े से ऐसे शब्द भी उपर्युक्त गणों में स्थान प्राप्त किये हुए मिल सकते हैं जो गोत्रप्रवरमंजरी मे निर्दिष्ट उपर्युक्त पुस्तकों मे नही मिलते। पर अन्य स्रोतों मे मिलने के कारण उन्हें भी उन उन गणों मे स्थान देना आवश्यक प्रतीत होता है।

४—षष्ठाध्याय के प्रथम पाद के उन्छादि गण से लेकर द्वितीय पाद के गौरादि गण तक के शब्दों की तुलना के लिये, भोज के सरस्वती कण्ठाभरण को छोड कर, अन्य सम्प्रदाय के वैयाकरणों अथवा उनकी व्याकरण विषयक सामग्री से कोई सहायता नहीं मिल सकती। इसलिये पाणिनीय सम्प्रदाय के ही विभिन्न, उपरिनिर्दिष्ट स्रोतों तथा भोज के सरस्वती कण्ठाभरण मे मिलने वाले स्वरविषयक गणों के शब्दों की पारस्परिक तुलना से ही सन्तोष करना पड़ेगा। हाँ स्वरविषयक तथा पाणिनीय सम्प्रदाय से सम्बद्ध अतिविश्वसनीय पुस्तक **स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका** में उपन्यस्त गणों से काशिका के उन उन गणों की तुलना की जा सकती है, तथा अनेक शब्दों के विषय मे विभिन्न उपादेय विवाद तथा वैदिकसाहित्य से विविध उदाहरणों के संग्रह मे पर्याप्त सहायता प्राप्त की जा सकती है।

इत्यलमतिविस्तरेण

उद्धृत प्राक्पाणिनीय गण

गणनाम	उपलब्धि स्रोत वा निर्धारक आचार्य	विशेष वक्तव्य	पृष्ठ
अक्षरसंहितादि	तै० प्रा०		१७
अघ्न्यादि	उणादिकोष		२८
अजिरादि	अ० प्रा०		२१
अब्दादि	उणादिकोष		२८
अलीकादि	”		”
अविरादि	ऋक्तंत्र		१९
अश्वादि	अ० प्रा०		२१
उत्तम्भनादि	वा० प्रा०		१७
एनाअहादि	अ० प्रा०		२१
एवादि	फिट्सूत्र		२९
कर्दमादि	”		”
कृतादि	भागुरि	कृततूस्तेभ्य० (३।१।२१) पाणिनि	२४
कौतस्कुतादि	ऋक्तंत्र	कस्कादि-पाणिनि आदि	१९, ५५, ७१
क्षिप्नादि	काशकृत्स्न	क्षम्नादि-पाणिनि-आदि	२५, ४८, ५९ इत्यादि
ग्रामादि	फिट्सूत्र	वृषादि-पाणिनि	२९
घृतादि	”	उञ्छादि-पाणिनि	२९
चूर्णादि	अष्टाध्यायी (६ । २ । १३४)	पाणिनि को स्वीकृत	२९, ३०
तौल्वल्यादि	पदमंजरी (भा० १ पृ० ४८९)		३०, ३१

गणनाम	उपलब्धि स्रोत वा निर्धारक आचार्य	विशेष वक्तव्य	पृष्ठ
दीर्घायुत्वादि	अ० प्रा०		२१
पटादि	ऋक्तंत्र		१९
पादादि	अ० प्रा०		२१
पिप्पल्यादि	गौणादिगण (द्र० काशिका ४।१।४१)	गौरादि-पाणिनि	३३, ३४, ६६, ७७, ८८, ८९
पुच्छादि	भागुरि	पुच्छभाण्ड० (३।१।२०) पाणिनि	२४
पृषोदरादि	ऋक्तंत्र	पाणिनि आदि को स्वीकृत	१९, ६३, ६८ इत्यादि
बृहस्पत्यादि	अ० प्रा०	'उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्' तथा 'देवताद्वन्द्वे च' (६।२।१४०–१४१)–पाणिनि	२१, २२, ५५
भूतादि	अ० प्रा०		२१
मन्द्रादि	तै० प्रा०		१७
मुण्डादि	भागुरि	मुण्डमिश्रश्लक्ष्ण० पाणिनि (३।१।२१	२४
मेण्यादि	भारद्वाज शिक्षा		२३
येत्यादि	ऋ० प्रा०		१७
रौढ्यादि	महा० (४।१।७९)	क्रौड्यादि-पाणिनि आदि रूढादि-शा० है०	३६, ३७, ५५, ११७
वत्सतरादि	ऋक्तंत्र		१९
व्याघ्रादि	अ० प्रा०		२१
शकन्धुकादि	ऋक्तंत्र	शकन्ध्वादि-कात्यायन (६।१।९४)	१९, ९७
शतादि	अ० प्रा०		२१
शाकल्येष्यादि	अ० प्रा०		२१

गणनाम	उपलब्धि स्रोत वा निर्धारक आचार्य	विशेष वक्तव्य	पृष्ठ
शीभादि	भारद्वाज शिक्षा		२३
शैत्यायनादि	तै० प्रा०		१७
श्लोकादि	भागुरि	श्लोकसेना० (३ । १ । २५) पाणिनि	२४
सत्यादि	भागुरि	सत्यापपाश०-पाणिनि (३ । १ । २५)	२४
सत्रसाहादि	अ० प्रा०		२१
सर्वादि	आपिशलि तथा चाक्रवर्मण	पाणिनि आदि के यहाँ क्रम विपर्यय	२६, २७
स्वस्रादि	भागुरि	पाणिनि आदि को स्वीकृत	२४, ६४, १३७, १४१

उद्धृत पाणिनीय गण

गणनाम	गणपाठस्थ स्थल	पृष्ठ संख्या
अक्षद्यूतादि	४ । १ । १९	१३५
अङ्गुल्यादि	५ । ३ । १०८	११९, १४५
अजादि	४ । ४ । १	९०, ९४, १३९, १४१, १५५, १५९
अजिरादि	६ । ३ । ११८	१४०, १५२
अनुप्रवचनादि	५ । १ । १११	१११, ११८, १३४, १५६
अपूपादि	५ । १ । ४	८९, १११
अयस्मयादि	१ । ४ । २०	५९
अरीहणादि	४ । २ । ८०	११२, १३५, १४९, १५२
अर्धर्चादि	२ । ४ । ३१	४७, ६३, ११२, १३०, १३३, १४०, १६७
अर्शआदि	५ । २ । १२७	११९
अश्वपत्यादि	४ । १ । ८४	११८, १३४
अश्वादि	४ । १ । ११०	१४९, १५०, १६०, १६१
आकर्षादि	५ । २ । ६४	११९
आहिताग्न्यादि	२ । २ । ३७	११८
इन्द्रजननादि	४ । ३ । ८८	५९, १११, १३४
उक्थादि	४ । २ । ६०	११८, १५०
उञ्छादि	६ । १ । १५	६३, १६८
उत्करादि	४ । २ । ९०	१२६, १५२
उत्सादि	४ । १ । ८६	४५, १४९
उद्गात्रादि	५ । १ । १२९	१३५
उपकादि	२ । ४ । ६९	१४९, १५०, १६७
उरःप्रभृति	५ । ४ । १५१	६९
ऊर्यादि	१ । ४ । ६१	१६७
ऋगयनादि	४ । ३ । ७३	११८, १२५
ऐषुकार्यादि	४ । २ । ५४	१५१

गणनाम	गणपाठस्थ स्थल	पृष्ठ संख्या
कच्छादि	४ । २ । १३३	९५, १५२, १५९
कडारादि	२ । २ । ३८	१२३
कण्ड्वादि	३ । १ । २७	४५, ७४
कण्वादि	४ । २ । १११	४५, ७५, ८०, ९४
कत्र्यादि	४ । २ । ९५	१५२, १५६,
कथादि	४ । ४ । १०२	१३, ६४, ११०, १२२, १३४, १४५, १५०
कर्क्यादि	६ । २ । ८७	१५२
कर्णादि	५ । २ । २४	१४०,
कल्याण्यादि	४ । १ । १२६	८७, १४२
कस्कादि	८ । ३ । ४८	५५, ९६, १००, १०४, १११, १२५, १३४, १४९, १५६
कार्तकौजपादि	६ । २ । ३७	८७
काश्यादि	४ । २ । ८०	१५२, १६३
किंशुलकादि	६ । ३ । ११६	१११, ११९, १३४, १५२
कुञ्जादि	४ । १ । ९८	१३७, १३८, १४१, १५०, १६७
कुमुदादि	४ । २ । ८०	१६३
कुम्भपद्यादि	५ । ४ । १३९	१४२,
कुर्वादि	४ । १ । १५१	९४, ११४, १२५, १२७, १५९
कोटरादि	६ । ३ । ११६	८३, १२०, १५२
क्रमादि	४ । २ । ६१	८३, १२०, १५०
क्रौड्यादि	४ । १ । ८०	३६, ३७, ५६, ९४, १०१, ११७, १३९, १४९
क्षुभ्नादि	८ । ४ । ३९	४८, ५९, ६०, ६३, ६८, ९०, ९६, १४९, १६०
खण्डिकादि	४ । २ । ४५	९५, १२२, १४८, १५६
गम्यादि	३ । ३ । ३	८३, १३८
गर्गादि	४ । १ । १०५	४५, ४९, ७९, ९४, १३७, १३८, १४०, १४१, १५०, १६७

गणनाम	गणपाठस्थ स्थल	पृष्ठ संख्या
गवादि	५ । १ । २	९७, ९५, ११९, १३७
गवाश्वप्रभृति	२ । ४ । ११	९३
गहादि	४ । २ । १३८	९०, ९५, ११०, १५२, १५५
गुडादि	४ । ४ । १०३	११०, १२२, १३४
गोपवनादि	२ । ४ । ६७	३१, ४५, ७६, ९४, ११०, १५५
गौरादि	४ । १ । ४१	३३, ३४, ४८, ६६, ७७, ८८, १८९, १३८, १४०, १४२, १४६, १४८, १५५, १६०
गौरादि	६ । २ । १९४	१६८
ग्रह्यादि	३ । १ । १३४	३५, ६७, ८९, १३८
चादि	१ । ४ । ५७	६२, १२८, १३९, १६७
चिहणादि	६ । २ । १२५	१५२
छत्र्यादि	४ । ४ । ६२	१४९
डतरादि	७ । १ । २५	७५, ७८
तक्षशिलादि	४ । ३ । ९३	७२, ११०, ११९, १३४, १५२
तारकादि	५ । २ । ३३	६०, १४५, १४८
तालादि	४ । ३ । १५०	१२०, १३४
तिककितवादि	२ । ४ । ६८	१५०, १६७
तिकादि	४ । १ । १५४	६५, १२६
तिष्ठद्गवादि	२ । १ । १७	९३, १५९
तुन्दादि	५ । २ । ११७	११४, १३५
तौल्वल्यादि	२ । ४ । ६१	३१, १०३, १४९
त्यदादि	१ । १ । ७४; १ । २ । ७२	४८, ५१, ७५, ७८
दण्डादि	५ । १ । ६६	१३५
दामन्यादि	५ । ३ । ११६	१३५, १५१
देवपथादि	५ । ३ । १००	५९, १११, १३४
द्वारादि	७ । ३ । ४	९६, १४०, १४२, १५४, १६०
द्व्यादि	५ । ३ । २	४८, ७५

गणनाम	गणपाठस्थ स्थल	पृष्ठ संख्या
धूमादि	४ । २ । १२७	४५, १५२
नडादि	४ । १ । ९९	१४०, १४१, १५०, १६७
नडादि	४ । २ । ९१	७६, १५२
नद्यादि	४ । २ । ९७	१०१, १५२
नन्द्यादि	३ । १ । १३४	३५, ६७, ८९, ९१, १३८
न्यङ्क्वादि	७ । ३ । ५३	८३, १०४, १३८, १४१, १५४
पक्षादि	४ । २ । ८०	११८, ११९, १२५, १६१
पचादि	३ । २ । १३४	३५, ५९, ६७, ९४, ११८, १३८
पर्श्वादि	५ । ३ । ११७	१५१
पलद्यादि	४ । २ । ११०	१५२
पलाशादि	४ । ३ । १३९	१११, १३४
पात्रेसमितादि	२ । १ । ४८	६१, ६२, ६५, ७२, १३९
पामादि	५ । २ । १००	११९, १४०
पारस्करादि	६ । १ । १५३	५२, ५९, ७२, ११९
पिच्छादि	५ । २ । १००	११४, १३५, १४०, १४५
पील्वादि	५ । २ । २४	१४०
पुरोहितादि	५ । १ । १२८	१२२, १३४
पुष्करादि	५ । २ । १३५	१२५, १२७
पूर्वादि	७ । १ । १६	४७, ७५, ७८
पृषोदरादि	६ । ३ । १०८	६०, ६३, ६८, ७२, ९६, १३६
पैलादि	२ । ४ । ५९	१६७
प्रगदिन्नादि	४ । २ । ८०	१२२
प्रज्ञादि	५ । ४ । ३८	१२३
प्रवृद्धादि	६ । २ । १४७	६१, ७०
प्रादि	१ । ४ । ५८	९३, १३९, १४८
प्रियादि	६ । ३ । ३३	१२९, १३०, १४२
प्रेक्षादि	४ । २ । ८०	१६१
प्लक्षादि	४ । ३ । १६२	१११, १३५

गणनाम	गणपाठस्थ स्थल	पृष्ठ संख्या
बलादि	५ । २ । १३६	१२२, १२७, १३५
बह्वादि	४ । १ । ४५	८७, १११, १३४, १४०, १४२
बाह्वादि	४ । १ । ९६	१३७, १३८, १४०
बिदादि	४ । १ । १०४	४५, ९४, १५०, १६७
बिल्वकादि	६ । ४ । १५३	४४, ७६
बिल्वादि	४ । ३ । १३४	४६, ९५, १३४, १५९
ब्राह्मणादि	५ । १ । १२४	५९, ९०, ११८, १२२, १३४, १४८
भर्गादि	४ । १ । १७६	१५२
भिक्षादि	४ । २ । ३८	४६, ९५, १००, १२०, १५९
भिदादि	३ । ३ । १०४	९०, ९४, १३८, १४५
भीमादि	३ । ४ । ७४	८३, १३८
भृशादि	३ । १ । १२	४६, ७३, ९४
भौरिक्यादि	४ । २ । ५४	१५१
मध्वादि	४ । २ । ८६	१२५, १५२
मनोज्ञादि	५ । १ । १३३	११८
मयूरव्यंसकादि	२ । १ । ७२	६२, ७३, १२८, १३५
महिष्यादि	४ । ४ । ४८	११८
मालादि	६ । २ । ८८	१५२
यजादि	(धातुगण)	६५
यवादि	८ । २ । ९	११९, १४०
यस्कादि	२ । ४ । ६३	३१, १३५, १३७, १५०, १६७
याजकादि	२।२।९॥६।२।१५१	७३
युक्तारोह्यादि	६ । २ । ८१	९५, १००, १४९, १५९
युवादि	५ । १ । १३०	१३४
यौधेयादि	४ । १ । १७६	४९, ५१, ६५, १५१
रजतादि	४ । ३ । १५२	१२०, १३४
रसादि	५ । २ । ९५	१११, १३५
राजदन्तादि	२ । २ । ३१	६२, १११

गणनाम	गणपाठस्थ स्थल	पृष्ठ संख्या
राजन्यादि	४।२।५३	१५१
रेवत्यादि	४।३।१३	१६१
लोमादि	५।२।१००	१४०
लोहितादि (१)	३।१।१३	७३, ९४, १००, ११८
लोहितादि (२)	४।१।१८	४५, ७५, ८०, ९४
वर्ग्यादि	६।२।१३१	४४
वाराणादि	४।२।८२	१५२
वृषादि	६।१।१९९	६३
व्युष्टादि	५।१।९७	९५
व्रीह्यादि	५।२।११६	९५, १२७, १३५, १४०
शण्डिकादि[1]		१२९
शरत्प्रभृति	५।४।१०७	४८, १२७, १४२, १४८, १६०
शरादि	६।३।११९	११२, १४०, १५२
शार्ङ्गरवादि	४।१।७३	९०, १५५
शिवादि	४।१।११२	६३, १३८, १४१
शुण्डिकादि	४।३।७६	४५
शुभ्रादि	४।१।१२३	४४, ६३, १४०
शौण्डादि	२।१।४०	४७
शौनकादि	४।३।१०६	१३५, १४९
सख्यादि	४।२।८०	१६१
सङ्कलादि	४।२।७५	६५, १५२
सङ्काशादि	४।२।८०	११८, १२२
सन्धिवेलादि	४।३।१६	१११, ११८, १३४
सपत्न्यादि	४।१।३५	३५, १११, १३५, १४०
सर्वादि	१।१।२७	१३, ४३, ४९, ६४, ६५, ७८, ८८, ९३, १३७, १३९, १४८, १५४, १५८, १५९, १६२

१. वर्धमान के निर्देशानुसार पाणिनि के मत में 'शुण्डिकादि' (४।३।७६) गण में 'शुण्डिक' के स्थान में 'शण्डिक' पाठ है।

गणनाम	गणपाठस्थ स्थल	पृष्ठ संख्या
सवनादि	८ । ३ । १०८	४८, १४९, १५५, १६०
साक्षात्प्रभृति	१ । ४ । ७४	४३, ९३, १६७
सिन्ध्वादि	४ । ३ । ९३	११०, ११९, १३४, १५२
सुवास्त्वादि	४ । २ । ७७	६५, १५२
सुषामादि	८ । ३ । ९८	६३, ६८, ९६, ११९
स्थूलादि	५ । ४ । ३	९५, १२३
स्नात्व्यादि	७ । १ । ४९	५९
स्वरादि	१ । १ । ३७	६२, ८८, १२८, १३९ १४८, १६७
स्वस्रादि	४ । १ । १०	६४, १३७, १४१
स्वागतादि	७ । ३ । ७	११९, १४२
हरितादि	४ । १ । १००	४५, ७६, ९४
हरीतक्यादि	४ । ३ । १६५	१२०, १३५

उद्धृत कात्यायनीय गण

गणनाम	स्थल निर्देश	अनुकर्ता	पृष्ठ
अग्निपदादि	५ । १ । ६७		६७
अण्डादि	६ । ३ । ४१	व०	६७, १३१
अध्यात्मादि	४ । ३ । ६०	व०	६६, १३१
अवान्तरदीक्षादि	५ । १ । ६४		९७
अहरादि	८ । २ । ७०	व०	६७, १३१
आद्यादि	५ । ४ । ४४	व०	६७, १३१
इरिकादि	८ । ४ । ६		६७
कम्बोजादि	४ । १ । १७५	चन्द्र०, शा०, हे०, व०	१०६, १२०, १३१
काष्ठादि	८ । १ । ६७		८१, ८२, ८३
कुक्कुट्यादि	६ । ३ । ४१	व०	६७, १३१
क्षिपकादि	७ । ३ । ४५		६७
खलादि	४ । २ । ५१	व०	६६, १३१
खलेयवादि	२ । १ । १७		१५६
गड्वादि	२ । २ । ३५	शा०, हे०	१२०
गिरिनद्यादि	८ । ४ । १०	शा०, हे०, व०	६७, १२०, १३१
चातुर्वर्ण्यादि	५ । १ । १२४		६७
ज्योत्स्नादि	५ । २ । १०३	चन्द्र०	६७, १०६
त्रिचकादि	६ । २ । १६६		६७
देवासुरादि	४ । ३ । ८८	चन्द्र०, व०	१०६, १३१
नवयज्ञादि[1]		चन्द्र०,	१०६
पत्यादि	८ । २ । ७०	व०	६७, १३१
परदारादि	४ । ४ । १	शा० हे० व०	६७, १२०, १३१
परिमुखादि	४ । ३ । ५८	शा० हे०	८१, ८२, ६६, १२०

१. द्र. महा० ४ । ३ । ६६ ।

गणनाम	स्थल निर्देश	अनुकर्ता	पृष्ठ
पार्श्वादि	३ । २ । १५		६६
पील्वादि	६ । ३ । १२१		६७
पुण्याहवाचनादि	५ । १ । १११	चन्द्र० व०	६७, १०६, १३२
पैङ्गाक्षीपुत्रादि	४ । २ । २८	चन्द्र०	१४६
प्रकृत्यादि	२ । ३ । १८		६६
प्रभूतादि	४ । ४ । १	व०	६६, १३१
भवदादि	५ । ३ । १४		६७
महानाम्न्यादि	५ । १ । ६४		६७
मागब्दादि	४ । ४ । १	शा० हे०	६६, १२०
मूलविभुजादि	३ । २ । ५	व०	६६, १३२
यवखदादि	५ । २ । ११६	नावादि	
		चन्द्र० शा० हे०	६५, १११, १२२
शकन्ध्वादि	६ । १ । ६३	व०	६७
शकादि	द्र० ६ । १ । ६३	शा० हे०	१२०
शाकपार्थिवादि	२ । १ । ६६		६६
शिखादि	५ । २ । ११६	चन्द्र० शा० हे०	६५, १११, ११२,
		व०	१३५
सम्पदादि	३ । ६ । १०८	व०	६६, १३२
सुस्नातादि	४ । ४ । १	शा० हे० व०	६७, १२०, १३१
स्वर्गादि	५ । १, १११	चन्द्र०, व०	१०६, १३१

उद्धृत प्रत्ययपाणिनीय गण

गणनाम	निर्धारक आचार्य वा अनुकर्ता	पृष्ठ
अक्षादि	वररुचि	१४४
अजादि (१)	हे०	१२५
अजादि (२)	व०	१३२
अर्थादि	शा०, हितादि-हे०	१२५
इन्द्रादि	नरेन्द्र	१४०
उदन्वादि	व०	१३२
उणादि	चन्द्र०, व०, मुखादि-मोग्गलान महाथेर	१०६, १३३, १४१, १४५
ऋत्वादि	शा०, हे०, व०	११०, १२२, १३३
ऋत्वादि	वररुचि	१४३
ऋष्यादि	वररुचि	१४३
कद्र्वादि	कातन्त्रकार	१३८
कलाप्यादि	चन्द्र०, मौदादि-शा०, हे०, ब्रह्मादि-व०	१०६, १२३, १३३
किंशुकादि	भो०, व०	१२७, १३३
कुण्डादि	व०, जानपदादि-नरेन्द्र	१३२, १३५, १४०
कृष्यादि	चन्द्र०, व०	१०६, १३३
केदारादि	वामन, व०	१२८, १३३
केवलादि	कातन्त्रकार	१३८
केशादि	चन्द्र०, मण्यादि-हे०, व०,	१०६, १३३
खसूच्यादि	भो०, व०	१२७, १३३
चूडादि	चन्द्र०, व०	१३
छन्दोगादि	कातन्त्रकार	१३८
जनादि	मोग्गलान महाथेर	१४५
जपादि	भो०, हे०	१२७

गणनाम	निर्धारक आचार्य वा अनुकर्ता	पृष्ठ
ज्योत्स्नादि	चन्द्र०, व० नरेन्द्र	१३३, १४१
तदिमिनादि	मोग्गलान महाथेर	१४५
तन्वादि	वोपदेव	१४२
दशादि	वररुचि	१४४
देवादि	शा०, है०	१२१
दैत्यादि	वररुचि	१४४
धर्मादि	शा०, है०, पक्षादि-व०	१२१, १३२
धूर्तादि	वररुचि	१४४
नखादि	मोग्गलान महाथेर	१४५
नड्वाडादि	चन्द्र०, व०	१३३
निकटादि	शा०, है०, व०	१३३
नीडादि	वररुचि	१४४
पक्षादि	चन्द्र०, पक्खादि-मोग्गलान	१४५
पात्रादि	व०	१३२, १३५
पानीयादि	वररुचि	१४३
पितादि	मोग्गलान महाथेर	१४५
पौरादि	वररुचि	१४४
भज्जादि	मोग्गलान महाथेर	१४५
भयादि	शा०, है०	१२१
भेषजादि	शा०, है०, अनन्तादि-व०	१३३
भ्रातुष्पुत्रादि	है०	१२५
मतल्लिकादि	भो०, व०	१२७, १३३
मन्वादि	नरेन्द्र	१४१
मातुलादि	मोग्गलान महाथेर	१४५
मासादि	वररुचि	१४४
मुकुटादि	वररुचि	१४३
यथादि	वररुचि	१४३

गणनाम	निर्धारक आचार्य वा अनुकर्ता	पृष्ठ
यादादि	वररुचि	१४४
रूपादि	चन्द्र०, व०	१३३
वक्रादि	वररुचि	१४४
वारादि	व०	१३५
वृन्दारकादि	भो०, व०	१२७, १३३
वेणुकादि	चन्द्र०, शा०, हे०	११०, १२२
व्यासादि	चन्द्र०, बोपदेव	११०, १४२
शय्यादि	वररुचि	१४३
श्रितादि	शा०, हे०	१२१
सदादि	वररुचि	१४३
सद्दादि	मोग्गलान महाथेर	१४५
समृध्यादि	वररुचि	१४३
सायाह्नादि	हे०	१२४
सेवादि	वररुचि	१४४
सोमादि	कातन्त्रकार	१३८
सौन्दर्यादि	वररुचि	१४४
संशयादि	शा०, हे०, व०	१३३
हरादि	मोग्गलान महाथेर	१४६
हरिद्रादि	वररुचि	१४४
हिमादि	चन्द्र०, गुणादि-शा०,हे०	११०, १२३

विशेष—केवल प्राकृत सूत्रो में पाये जाने वाले गणों को छोड़कर, जिनकी रचना वररुचि ने प्राकृतभाषा के शब्दों की ही दृष्टि से किया था, अन्य सभी अर्वाचीन आचार्यों द्वारा निर्धारित, यहां तक कि पालिभाषा के वैय्याकरण मोग्गलान महाथेर द्वारा निर्धारित प्रायः सभी उपरि निर्दिष्ट गण पाणिनि के उन २ प्रसंगों के सूत्रों तथा तत्सम्बद्ध कात्यायन की वार्तिकों के ही संक्षिप्त रूप हैं—यह निर्दिष्ट पृष्ठों के देखने से सर्वथा सुस्पष्ट हो जाता है।

पाणिनीय गण जिनका नाम अर्वाचीन वैयाकरणों ने बदल दिया

पाणिनीय गण	परिवर्तित नाम	परिवर्तक आचार्य	पृष्ठ
अङ्गुल्यादि	गोण्यादि	शा०, हे०	११६
अनुप्रवचनादि	उत्थापनादि	चन्द्र०, शा०, हे०, व०	
अपूपादि	यूपादि	चन्द्र०, मो०	१११, १२७
अर्शादि	अभ्रादि	शा०, हे०	११६
अश्वपत्यादि	धनादि	शा०, हे०, व०	११८, १३४
आकर्षादि	अश्मादि	शा०, हे०	११६
आहिताग्न्यादि	भार्योढादि	शा०, हे०	११८
इन्द्रजननादि	शिशुक्रन्दादि	चन्द्र०, व०	१११, १३४
उक्थादि	न्यायादि	शा०, है०	११८
ऋगयनादि	शिक्षादि	शा०, हे०	११८
किंशुलकादि	अञ्जनादि	चन्द्र०, शा०, हे०, व०	१११, ११६, १३४
कुमुदादि	अश्वत्थादि	शा०, हे०	११६
कुम्भपद्यादि	कुम्भादि	बोपदेव	१४२
गवादि	युगादि	शा०, हे०	११६
गौरादि	नदादि	कातन्त्रकार, नरेन्द्र, बोपदेव	१३८, १४०, १४२
तिष्ठद्गवादि	तिट्ठग्वादि	मोग्गलान महाथेर	१४५
देवपथादि	अर्चादि	व०	१३४
पक्षादि	पथ्यादि	शा०, पथ्न्यादि-हे०	११८, ११६
पचादि	लिहादि	शा०, हे०	११८
पामादि	अङ्गादि	शा०, हे०	११६

पाणिनीय गण जिनका नाम परिवर्तित हुआ

पाणिनीय गण	परिवर्तित नाम	परिवर्तक आचार्य	पृष्ठ
पारस्करादि	अवस्करादि	शा०, हे०	११६
पूरण्यादि	प्रियादि	बोपदेव	१४२
प्रादि	पादि	मोग्गलान महाथेर	१४५
प्रियादि	स्वादि	भद्रेश्वर	१२६
बह्वादि	शोणादि	चन्द्र०, भो०, व०, बोपदेव, पद्धत्यादि-नरेन्द्र	१११, १२७, १३४, १४०, १४२
ब्राह्मणादि	राजादि	शा०, हे०	११८
ब्रीह्यादि	तडिदादि	नरेन्द्र	१४०
मनोज्ञादि	चौरादि	शा०, हे०	११८
महिष्यादि	नरादि	शा०, हे०	११८
यवादि	ऊर्म्यादि	शा०, हे०	११६
लोहितादि	निद्रादि	शा०, हे०	११८
शुभ्रादि	अत्र्यादि	नरेन्द्र	१४०
संकाशादि	सुपथ्यादि	शा०, हे०	११८
सन्धिवेलादि	सन्ध्यादि	चन्द्र०, शा० हे०, व०	१११, ११८, १३४
सपत्न्यादि	समानादि	चन्द्र०, पत्न्यादि-नरेन्द्र	१११, १४०
सर्वादि	सब्बादि	मोग्गलान महाथेर	१४५
सुषामादि	भीरुष्ठानादि	शा०, हे०	११६
स्थूलादि	अण्वादि	शा०, हे०	११६
स्वागतादि	स्वङ्गादि	शा०, हे०, बोपदेव	११६, १४२

उद्धृत ग्रन्थकार

१ अथर्वप्रातिशाख्यकार २१
२ अनुभूतिस्वरूप १३८
३ अभयनन्दी ११३, १३०
४ अमोघवर्ष ११४
५ अरुणदत्त १३०, १३१, १३३
६ आपिशलि १३, १५, १६, २५, २६, ५२, ५६, ७४, ७६, १४६
७ आइ. एम. पावते ५३
८ इत्सिंग १०८
९ इन्द्र ४, ७, १६, ६७, ११५
१० ऋक्तन्त्रकार २०
११ ए. सी. बर्नेल १६, १७, ३७, ११५, ११६, ११७, १३६, १३७
१२ एस. के. डे. ११२
१३ एस. के. बेल्वाल्कर ६२, १००, १०१, १०८, ११२, ११३, १२४, १३६, १४३
१४ ओटो बोथलिंक १६४, १६५
१५ औदव्रजि २०
१६ कच्चायन १६, १४७
१७ कशकृत्स्न १४६
१८ कात्यायन १, १६–२१, ३६, ४६, ४७, ५६, ६०, ७३, ७६, ८०, ८२, ८३, ८६, ९०–९२, ९६–१००, १०६, १०८, १०९, ११५, ११७, १२१, १२७, १३१, १३२, १३७, १३६, १४१, १४२, १४५, १४६, १५४, १५५, १५८, १५९, १६०, १६२, १६५, १६७
१९ काशकृत्स्न ८, १५, १६, २५, १४६
२० काशिकाकार २६, ४८, ५४, ६१, ६५, ६८, ६६, ७०, ७६, ८२, ८३, ९१, ९८–१००, १०३, १०४, ११०, १५४, १५६, १६०, १६२, १६६
२१ काशीश्वर १४३
२२ कीथ ६८
२३ कीलहार्न ८२, ९९
२४ कैय्यट १, १६, २६, ४८, ५८, ६६, ७९, ८२
२५ क्रमदीश्वर १४३
२६ क्षितीशचन्द्र चटर्जी १५, १०८
२७ क्षीरस्वामी ३६, १०१, १०२, १२७
२८ गणेश्वर १४३
२९ गोल्डस्टूकर २७, २९
३० चन्द्र या चन्द्रगोमी ४०, ४१, ७६, ८२, ८३, ९१, ९७, ९९, १००, १०६–११२, ११५, १२१, १२२, १२४, १२६, १२७, १३०, १३२–१३५, १४१, १४२, १४५, १५५, १५६, १६०, १६१, १६४, १६५, १६७

३१ चन्नवीरकवि १५, २५
३२ चारुवर्मण ३७, ३८
३३ चारायण ७
३४ छेदाध्यायी ६६
३५ जगदीश तर्कालंकार २४
३६ जयादित्य वामन १६७
३७ जानब्रक १५१, १६८
३८ जिनेन्द्रबुद्धि वा न्यासकार १२, २६, ३२, ४८–५३, ६१, ८२, १०१, १६१
३९ जैनशाकटायन ६१, १०५, १२५, १३०, १३३, १५६, १६४, १६५
४० तारानाथ ९, १६, १३६
४१ थेडोर आफ्रेख्ट २७, २८
४२ दुर्गसिंह १३७
४३ दुर्गादास १४२
४४ देवनन्दी वा जैनेन्द्र ४०, १०६, ११३, ११५, १२३, १२५, १६३, १६५
४५ द्रमिड़ वैयाकरण ३९, १३०
४६ धनञ्जय कोषकार ११३
४७ धातुवृत्तिकार ८२
४८ नरसिम्मैया २५
४९ नरेन्द्र वा सारस्वतव्याकरणकार ४०, १३८, १४०, १४२
५० नागेशभट्ट २७, २८, ४८, ६५, ८२, ८३, ९१, १०३, १५६
५१ नागेश्वरभट्ट २३
५२ न्यायपञ्चानन १४३
५३ पतञ्जलि वा महाभाष्यकार १, ३, १०, १७, २३, २६, ३१, ३६, ४७, ४८, ५४, ५७–५९, ६६–६९, ७३, ७९, ८२, ९२, ९७–१००, १०४, १११, ११५, ११७, १४९, १५४, १५६, १५८–१५९, १६०, १६५
५४ पद्मनाभदत्त १४३
५५ पाल्यकीर्ति ३७, ४०, ७१, १०६, ११४, ११६, ११७, ११९–१२४, १३०, १३५, १५६, १६४
५६ पारायणिक विद्वान् १००, १३०, १३४, १५६
५७ पुरुषोत्तमदेव १०२
५८ पूर्णचन्द्र १०४
५९ पौष्करसादि १४९
६० प्राचीन शाकटायन २०, २१, २७, ३७, ११५–११७
६१ प्राचीन वृत्तिकार १०४
६२ बालमनोरमाकार ५८
६३ बूहलर ३७
६४ बृहस्पति ४
६५ बोपदेव वा मुग्धबोधकार ११३, १४१, १४२
६६ भट्टयज्ञेश्वर या यज्ञेश्वरभट्ट ७०, १०१, १०५, १६२, १६४
६७ भट्टोजी दीक्षित २९, ४८, ८२, १०३
६८ भद्रेश्वर वा भद्रसूरि १२९–१३१

६९ भर्तृहरि २, २६, ६८, ७६, १०८
७० भागुरि २३, २४
७१ भामह १४४
७२ भारद्वाज २३
७३ भाषावृत्तिकार २४
७४ भोज ४०, ६२, ७१, १०६, १२३, १२५–१२८, १३०, १३३, १३५, १५६, १६३–१६५
७५ मध्यन्दिन १४६
७६ मल्लवादी १२८
७७ मल्लिनाथ १०२
७८ माधव वा धातुवृत्तिकार १०१–१०४
७९ माध्यन्दिन १४६
८० मैक्डानल २
८१ मैक्समूलर २, २७–२६
८२ मैत्रेय रक्षित १०१, १०३
८३ मोग्गलान महाथेर १४४, १४६, १४७
८४ यक्षवर्मा ११४
८५ यास्क १६
८६ युधिष्ठिर मीमांसक ८, २५, २८, ११२, १२६
८७ रत्नमति १३०
८८ रमाकान्त १४३
८९ रामचन्द्र १६१
९० रामतर्क वागीश १४२
९१ लीबिश १०४, १०८, ११२
९२ वररुचि १४४
९३ वर्धमान ३८, ३६, ५७, ६०, ६४, ७१, ६७, १०२, १०३, १०५, १०६, १२७, १२८-१३०, १३१, १३४–१३६, १५६, १६२–१६५
९४ वसुरात १०८
९५ वामन १२८, १२६, १३०, १३३, १३५
९६ वासुदेवशरण अग्रवाल ३२, ३३, ४१, १५०, १५२
९७ वृद्ध वैयाकरण ३८, १३०
९८ व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिकार ६५
९९ व्याडि १४६
१०० शबर स्वामी ६
१०१ शान्तनव १३, २८
१०२ श्रीभद्र १२६
१०३ श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती १०२
१०४ श्लोकगणकार १०३
१०५ श्लोकवार्तिककार ८०, ८१, ६४, ६६
१०६ सुधाकर १०४
१०७ सूर्यकान्त २०
१०८ संहिताध्यायी ६६
१०९ स्कन्दस्वामी २६
११० हरदत्त वा पदमञ्जरीकार २५, ३२, ५४, ५७, ५८, ६१, ७७, ८२, ६८, १०१, १५७
१११ हेमचन्द्र ४०, ६०, ६४, ७१, १०६, ११३, ११६-१२५, १२७, १२८, १३०, १३३, १५६, १६३, १६४, १६५
११२ हेलाराज १६

प्रमुख सहायक तथा उद्धृत पुस्तकें, पत्रिकायें तथा हस्तलेख

अथर्व-प्रातिशाख्य डा० सूर्यकान्त शास्त्री सम्पादित ।

अथर्व-प्रातिशाख्य पं० विश्वबन्धु शास्त्री सम्पादित, पंजाब यूनिवर्सिटी १९२३ ।

अष्टाध्यायी श्रीधर शास्त्री पाठक सम्पादित, पूना १९३२ ।

आन दी ऐन्द्र स्कूल आफ संस्कृत ग्रमेरियन्स ए० सी० बर्नेल मंगलोर १८७५ ।

इण्डियन एण्टिकरी अप्रैल १८१६, अप्रैल १८७५ तथा जनवरी १८८७ ।

इण्डियन हिस्टारिकल कार्टर्ली जून १९३८ ।

इण्डिया एज नोन टु पाणिनि डा० वासुदेवशरण, अग्रवाल, लखनऊ १९५३ ।

इण्डयाज पास्ट ए० ए० मैक्डानल ।

उणादिसूत्र श्रीधर शास्त्री पाठक सम्पादित पूना–१९३५ ।

उणादिसूत्र उज्ज्वलदत्तवृत्ति थेडोर आफ्रेक्ट सम्पादित, बान–१८५९ ।

ऋक्तन्त्र डा० सूर्यकान्त शास्त्री सम्पादित, लाहोर–१९३३ ।

ऋक्प्रातिशाख्य उव्वट टीका–डा० मंगलदेव शास्त्री सम्पादित–१९३१ ।

ए हिस्टरी आफ एंशियेण्ट संस्कृत लिटरेचर मैक्समूलर, अलाहाबाद ।

कातन्त्र छन्दः प्रक्रिया चन्द्रकान्त तर्कालंकार सम्पादित, शेरपुर–१८९६ ।

कातन्त्र-व्याकरण त्रिलोचन टीका कलकत्ता

काशिकावृत्ति (१) पं० बालशास्त्री सम्पादित, बनारस–१९२८ ।

काशिकावृत्ति (२) हस्तलेख-सरस्वती भवन, वाराणसी ।

काशिकाविवरणपञ्जिका श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती सम्पादित, राजशाही बंगाल १९१९ ।

काशकृत्स्न व्याकरण और उसके उपलब्ध सूत्र पं० युधिष्ठिर मीमांसक ।

किरातार्जुनीय मल्लिनाथ टीका, आर० सी० पी० शास्त्री सम्पादित, बाम्बे १९३९ ।

गणरत्न हस्तलेख–सरस्वती भवन, वाराणसी।
गणरमहोदधि जूलियस एगलिंग सम्पादित, लन्दन १८७९।
गणरत्नमहोदधि (१) पं० भीमसेन शर्मा सम्पादित, इटावा।
गणरत्नावली भट्ट यज्ञेश्वर।
चान्द्रवृत्ति (१) (१–३ अध्याय) क्षितीशचन्द्र चटर्जी सम्पादित।
चान्द्रवृत्ति (२) डा० ब्रूनो लीबिश सम्पादित।
जैनेन्द्र व्याकरण महानन्दी टीका (हस्तलेख-सरस्वती भवन वाराणसी)।
जरनैल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी (अर्ली हिस्टरी आफ गोत्र–जानब्रफ) १९४६।
टेक्निकल टर्म्स एण्ड टेकनीक आफ संस्कृत ग्रामर प्रथम भाग, क्षितीश-चन्द्र चटर्जी।
तन्त्रवार्तिक कुमारिल भट्ट।
तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (१) माहिषेय-टीका, वी० वेंकटराम शर्मा सम्पादित।
तैत्तिरीय–प्रातिशाख्य (२) त्रिभाष्यरत्नटीका। मैसूर संस्करण।
तैत्तिरीय–संहिता भट्टभास्कर मिश्र की व्याख्या, महादेव शास्त्री सम्पादित, मैसूर–१८९४।
दी अर्ली ब्राह्मणिकल सिस्टम आफ गोत्र एण्ड प्रवर जानब्रफ, कैम्ब्रिज १९५३।
दी क्रिटिकल स्टडीज आफ कात्यायनज शुक्ल यजुर्वेद-प्रातिशाख्य वी० वेंकटराम शर्मा, मद्रास–१९३५।
दी वेदाज इन पाणिनि पालथीमे।
दी स्ट्रक्चर आफ अष्टाध्यायी आइ० एस० पावते, बाम्बे यूनिवर्सिटी।
दुर्घटवृत्ति शरणदेव–टी. गणपति शास्त्री सम्पादित, त्रिवेन्द्रम–१९०४।
धातुप्रदीप मैत्रेय–श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती सम्पादित, राजशाही–१९१९।
धातुवृत्ति माधव–अनन्त शास्त्री फड़के सम्पादित, बनारस–१९३४।
नवाह्निक (महाभाष्य, प्रथम अध्याय, प्रथम पाद)–प्रदीप तथा उद्योत टीका–निर्णयसागर प्रेस, बाम्बे।

---

* प्रकाशन करते समय एगलिंग का संस्करण उपलब्ध न होने कारण भीमसेन–संस्करण से ही पृष्ठों का उल्लेख किया गया है।

नामलिंगानुशासन (१) वन्द्यघटीय सर्वानन्द की टीकासर्वस्व के साथ–टी. गणपति शास्त्री–सम्पादित, त्रिवेन्द्रम–१६१४ ।

नामलिंगानुशासन (२) भट्ट क्षीरस्वामी की 'अमरकोशोद्घाटन' टीका के साथ, डा० हरदत्त शर्मा तथा डा० एन० जी० सर देसाई सम्पादित, पूना–१६४१ ।

निरुक्तवृत्ति दुर्गाचार्य–एच० एम० भडकमकर सम्पादित, बाम्बे–१६१८ ।

निरुक्तटीका स्कन्द-महेश्वर–डा० लक्ष्मणसरूप सम्पादित ।

पदमञ्जरी हरदत्तमिश्र–भरद्वाज दामोदर शास्त्री सम्पादित, काशी–१८६५ ।

परिभाषेन्दुशेखर नागेशभट्ट–राजनारायण शास्त्री सम्पादित ।

पाणिनिज ग्रमेटिश्चर रेजलिन डा० ओटो भोटलिंक, वान–१८४० ।

पाणिनि–हिज प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर डा० गोल्डस्टूकर ।

पाणिनीय गणपाठ (१) गोवर्धन
पाणिनीय गणपाठ (२) रामकृष्ण
पाणिनीय गणपाठ (३) महादेव
पाणिनीय गणपाठ (४) मोरश्वर लेले
हस्तलेख, सरस्वती भवन, वाराणसी ।

पाली महाव्याकरण भिक्षु जगदीश काश्यप ।

प्रक्रिया-कौमुदी रामचन्द्र–विट्ठल को प्रसाद टीका के साथ ।

प्रक्रिया-संग्रह (जैन शाकटायन सम्प्रदाय) आचार्य चन्द्र ।

प्राकृतसूत्र वररुचि–भामह की टीका के साथ ।

प्रैक्टिकल संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी वी० एस० आप्टे ।

प्रौढमनोरमा भट्टोजी दीक्षित–लघुशब्दरत्न टीका के साथ ।

फिट्सूत्र–शान्तनव श्रीधर शास्त्री पाठक सम्पादित, पूना–१६३५ ।

भागवृत्ति-संकलनम् पं० युधिष्ठिर मीमांसक

भारद्वाज शिक्षा नागेश्वर टीका, रामचन्द्र दीक्षितार तथा पी० एस० सुन्दरम् अय्यर–सम्पादित पूना–१६३८ ।

भाषावृत्ति पुरुषोत्तमदेव–श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती सम्पादित, राजशाही–१६१८ ।

महाभाष्य (सम्पूर्ण) गुरुप्रसाद संस्करण ।

मुग्धबोध व्याकरण बोपदेव,–दुर्गादास तथा रामतर्क वागीश की टीका के साथ, जीवानन्द विद्यासागर सम्पादित, कलकत्ता १६०२ ।

रघुवंश मल्लिनाथ टीका ।

लघुशब्देन्दुशेखर नागेशभट्ट,–(पूर्वार्ध) नित्यानन्द पर्वतीय की टीका, सदाशिव शास्त्री जोशी तथा रामचन्द्र शास्त्री सम्पादित, बनारस १८६५ ।

लघुशब्देन्दुशेखर नागेशभट्ट–(उत्तरार्ध) रामशास्त्री नारायण शास्त्री सम्पादित, बनारस–१८५७ ।

वर्ड इण्डैक्स टु पाणिनिज सूत्रपाठ एण्ड परिशिष्टज श्रीधरशास्त्री पाठक तथा सिद्धेश्वर शास्त्री द्वारा समाम्नात, पूना–१६३६ ।

वाक्यपदीय भर्तृहरि–प्रथम काण्ड–रामलाल कपूर ट्रस्ट लाहौर, द्वितीय तृतीय काण्ड–काशी ।

वाजसनेय–प्रातिशाख्य वी० वेंकटराम शर्मा सम्पादित, मद्रास ।

वायु पुराण आनन्दाश्रम पूना ।

व्याकरण दर्शनेर इतिहास गुरुपाद हाल्दार, कलकत्ता ।

व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि विश्वेश्वर शास्त्री, माधव शास्त्री भण्डारी सम्पादित, बनारस–१६२४ ।

शब्दार्णव व्याकरण गुणनन्दी–सोमदेव की 'चन्द्रिका' टीका के साथ ।

शब्दकौस्तुभ भट्टोजी दीक्षित,–पं० गोपाल शास्त्री नेने सम्पादित ।

शब्दकौस्तुभ भट्टोजी दीक्षित,–पं० विन्ध्यवासिनीप्रसाद द्विवेदी सम्पादित, बनारस १६१७ ।

शाकटायन शब्दानुशासन (१) यक्षवर्मा की 'चिन्तामणि' टीका के साथ । लाजरस प्रेस बनारस ।

शाकटायन व्याकरण (२) अमोघा वृत्ति हस्तलेख, भारती ज्ञानपीठ, काशी ।

शिशुपालवध मल्लिनाथ टीका, दुर्गाप्रसाद तथा शिवदत्त सम्पादित, बाम्बे १६१७

सरस्वतीकण्ठाभरण भोजदेव-टी० आर० चिन्तामणि सम्पादित, मद्रास यूनिवर्सिटी–१६३७ ।

सरस्वतीकण्ठाभरण–हृदयहारिणी वृत्ति ट्रिवेण्ड्रम–संस्कृत सीरिज़ ।

संस्कृत व्याकरण–शास्त्र का इतिहास पं० युधिष्ठिर मीमांसक ।

सारस्वत व्याकरण (पूर्वार्ध)–चन्द्रकीर्ति टीका, वेंकटेश्वर प्रेस, बाम्बे ।

सिद्धहेमचन्द्राभिधस्वोपज्ञ शब्दानुशासन स्वकीयबृहद् वृत्ति के साथ ।

सिद्धान्तकौमुदी भट्टोजी दीक्षित-'बालमनोरमा' तथा 'तत्त्वबोधिनी' टीका के साथ

सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर एस० के० बेल्वाल्कर, पूना–१६१४ ।

स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका श्री निवासयज्वा,-शिवरामकृष्ण सम्पादित, मद्रास १६३६

हिस्टरी आफ संस्कृत लिटरेचर ए० बी० कीथ, लन्दन–१६३० ।

संशोधन-पत्र

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	१५	प्रस्तुत की है।	इस पर टिप्पण — दी इण्डियन एण्टीकरी अप्रेल १८७५ पृष्ठ १०२, तथा उससे आगे।
,,	१८	शब्दरचना के पूर्व	शब्दरचना के विषय में
१३	४	पाणिनि तत्तद्गणसम्बद्ध	पाणिनि के तत्तद्गण-सम्बद्ध
१८	८	शैत्यादि	शैत्यायनादि
१६	६	वत्सरादि	वत्सतरादि
२५	५	उद्धृत हैं।[२]	उद्धृत हैं।[१]
३२	१६	गणमीयानो	गणमधीयानो
३६	३	इस में प्रसङ्ग	इस प्रसङ्ग में
३७	टि० ५	सर्वनामताभ्युपमात्	सर्वनामताभ्युपगमात्
४३	टि० १	अस्ति ह पाठो	अस्ति च पाठो
४५	३-६	प्रथम सूत्र में···लोहितादिगण का और द्वितीय तृतीय···पठित कण्वादि, गोपवनादि	प्रथम और द्वितीय सूत्र में···लोहितादिगण और कण्वादि का तथा तृतीय ······पठित गोपवनादि
५३	२२, २३	सूत्रपाठ पाठ से पूर्व	सूत्रपाठ से पूर्व
५६	७	सूत्रों[२] आपिशलि	सूत्रों[२] तथा आपिशलि
५८	२१	प्राक्षेप	प्रक्षेप
६३	२६	दोषपूर्ण बताया है।	इस पर टिप्पण—यच्च व्याप्तिसिद्धौ सरलमुपाय-मपश्यता नाकृतिगणवर्ण-म्······सुतरामपरिशुद्धि-मनुशासनस्य दर्शयति। टेक्निकल टर्म्स एण्ड

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
			टेक्नीक आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ २६४।
७०	३०	हो जाते हैं।	हो जाते हैं। सम्पा०।
७६	१५	प्राग्वरितादिभ्यः इस'	प्राग्वरितादिभ्यः' इस
९६	१८	(महा० ४ । ३ । ५८)	(महा० ४ । ३ । ५६)
९७	१३	कुक्कुटादि	कुक्कुट्यादि
९६	टि० १	नामधातुपारायणादिषु	धातुनामपारायणादिषु
१०८	२३	किया है।	किया है। सम्पा०।
११२	टि०	३. द्र०	४. द्र०
"	"	४. द्र०	५. द्र०
१२०	टि० १०	शा० २ । १ । १४४	शा० २ । १ । ११४
१२५	२	तथा 'अनन्तावसथ०' सूत्र के लिए भेषजादिगण	इस अंश को पृष्ठ १२१, पं० १२ पर 'श्रितादिगण' के आगे पढ़ें।
"	४	पाणिनि के पुष्करादि तथा अजादि	पाणिनि के पुष्करादिगण को पुष्करादि तथा अब्जादि
१२७	६	जयादिगण	जपादिगण
१२८	टि० ७	विश्रान्तविश्राधराभिधे	विश्रान्तविद्याधराभिधे
१३३	६	कल्पादि	कलाप्यादि
१४०	४	लोभादिगण	लोमादिगण
१४२	४	स्वङ्ग	स्वाङ्ग
"	५	स्वङ्गादि	स्वाङ्गादि
१४३	१२	की थी।[3]	की थी।[2]
१४६	४	तदिभिनादि	तदिमिनादि
१५१	२४	पार्श्वादि	पर्श्वादि
१५६	५	ग्रामाच्च्य	ग्रामाच्च
१५७	२६	परमसर्पि कुण्डकेत्येतदेव	परमसर्पिः कुण्डकेत्येतदेव
१६१	६	संख्यादि	सख्यादि
१६३	१७	मुचकर्ण	मुचुकर्ण

निम्न ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित होंगे

नया प्रकाशन

१. संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, भाग २ (छप रहा है)
२. छन्दः-शास्त्र का इतिहास
३. शिक्षा-शास्त्र का इतिहास
४. निरुक्त-शास्त्र का इतिहास
५. पाणिनीय गणपाठ का आदर्श संस्करण
६. बृहद्देवता का हिन्दी अनुवाद

नवीन संस्करण

१. संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग
२. वैदिक-स्वर-मीमांसा
३. भागवृत्ति-संकलनम्
४. निरुक्त-समुच्चय (वररुचि-कृत)
५. शिक्षा-सूत्राणि (पाणिनीय-आपिशल-चन्द्र)
६. वेदार्थ-मीमांसा अर्थात् वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन

प्राच्य-विद्या

अनुसन्धान कार्य को प्रसारित करने के लिए "प्राच्य-विद्या" नाम्नी उच्च कोटि की त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन वैशाखी सं० २०१६ (सन् ६२) से नियमित रूप से आरम्भ हो जायगा।

इसका वर्षिक चन्दा ८) रु० होगा। प्रतिष्ठान के सभी प्रकार के सदस्यों को यह विना मूल्य दी जायगी।

संचालक—भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान

२४/२१२ रामगंज, अजमेर

४६४३ रेगरपुरा, गली ४०, करोल बाग, नई दिल्ली, ५

प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान विक्रय विभाग

प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित तथा प्रसारित वाङ्मय

१. संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास (युधिष्ठिर मीमांसक) (भाग १) १०)
२. " " " " " " (भाग २) १०)
३. वैदिक-स्वर-मीमांसा " " ३)
४. वैदिक-छन्दोमीमांसा " " ४।।)
५. ऋग्वेद की ऋक्संख्या " " ।।)
६. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्-पर विचार " " ।)
७. दुष्कृताय चरकाचार्यम् मन्त्र पर विचार " " ।)
८. ऋग्वेद की कतिपय दानस्तुतियों पर विचार " ।)
९. आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय " ।।)
१०. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास " ६)
११. ऋषि दयानन्द की पद प्रयोग-शैली " १।।)
१२. यजुर्वेदभाष्य-संग्रह (पञ्जाब शास्त्री परीक्षा में नियत) सं० यु० मी ४)
१३. शिक्षा सूत्राणि (आपिशलि पाणिनि चन्द्रगोमी) " " ।)
१४. क्षीरतरङ्गिणी (धातुपाठ की क्षीरस्वामी कृत व्याख्या) " " १२)
१५. संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि (श्री पं० कपिल व एम० ए०) ८)
१६. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन ७)
१७. यजुर्वेदभाष्य-विवरण (प्रथम भाग) (श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु) १६)
१८. वेदविद्या-निदर्शन (श्री पं० भगवद्दत्तजी) १२)
१९. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास (प्रथम भाग) " १०)
२०. " " " " (द्वितीय भाग) " २०)
२१. भाषा का इतिहास " ५)
२२. आयुर्वेद का इतिहास (श्री पं० सूरमचन्द कविराज बी० ए०) ८)
२३. अष्टाध्यायी-प्रकाशिका (श्री पं० देवप्रकाश पातञ्जल) ८)

२४/२१२ रामगंज अजमेर } प्राप्ति-स्थान { ४६४३ रेगरपुरा ४० करोल बाग, नई दिल्ली ५ ।